पौष, वीर नि० सं०२४६६
जनवरी १९४०

अनेकान्त

वर्ष ३, किरण ३
वार्षिक मूल्य ३)

श्रीबाहुबली स्वामी

इस कामदेवोपम सर्वाङ्ग-सुन्दर बलिष्ठ पुरुषने निदारुण कायक्लेशमें वर्षके वर्ष बिता डाले। लोग देखकर हा-हा खाते थे और निस्तब्ध रह जाते थे। उसकी स्पृहणीय काया मिट्टी बनी जा रही थी। स्त्रियाँ उस निर्निमीलित नेत्र, मग्न-मौन, शिलाकी भांति खड़े हुए पुरुष-पुंगवके चरणोंको धो-धोकर वह पानी आँखों लगाती थीं। उसके चरणोंके पासकी मिट्टी औषधि समझी जाती थी। पर वह सब ओरसे विलग, अनपेक्ष, बन्द-आँख बन्द-मुख, मलिन देह, कृश-गात, तपस्यामें लीन था।

—जैनेन्द्र

सम्पादक—
जुगलकिशोर मुख़्तार
अधिष्ठाता वीर-सेवामन्दिर सरसावा (सहारनपुर)

संचालक—
तनसुखराय जैन
कनॉट सर्कस पो० बॉ० नं० ४८ न्यू देहली।

मुद्रक और प्रकाशक— अयोध्याप्रसाद गोयलीय

विषय-सूची

		पृष्ठ
१.	सिद्धसेन स्मरण	२०५
२.	पुरुषार्थ (कविता)—[ले० श्री० मैथिलीशरण गुप्त	२०६
३.	धवलादि-श्रुत-परिचय [सम्पादकीय	२०७
४.	सुधार संसूचन	२१६
५.	उस दिन (कहानी)—श्री "भगवत्"	२१७
६.	जैनधर्म की विशेषता [श्री सूरजभान वकील	२२१
७.	वीर शासनाँक पर सम्मतियाँ	२३५
८.	वास्तविक महत्ता [श्रीमद् राजचन्द्र	२३६
९.	ज्ञातवंशका रूपान्तर जाटवंश [मुनि श्री कवीन्द्रसागरजी ...	२३७
१०.	द्रव्य-मन [पं० इन्द्रचन्द्र शास्त्री	२५०
११.	अति प्राचीन प्राकृत "पंच संग्रह" [पं० परमानन्द	२५६
१२.	जैन और बौद्ध निर्वाणमें अन्तर [श्री जगदीशचन्द्र एम.ए. ...	२६१
१३.	एक महान साहित्य सेवीका वियोग [सम्पादकीय	२६५

अनेकान्तकी फाइल

अनेकान्तके द्वितीय वर्षकी किरणोंको कुछ फाइलोंकी साधारण जिल्द बंधवाली गई हैं। १२ वीं किरण कम हो जानेके कारण फाइलें थोड़ी ही बन्ध सकी हैं। अतः जो बन्धु पुस्तकालय या मन्दिरोंमें भेंट करना चाहें या अपने पास रखना चाहें वे २॥) रु० मनिआर्डरसे भिजवा देंगे तो उन्हें सजिल्द अनेकान्तकी फाइल भिजवाई जा सकेगी।

जो सज्जन अनेकान्तके ग्राहक हैं और कोई किरण गुम हो जानेके कारण जिल्द बन्धवानेमें असमर्थ हैं उन्हें १२वीं किरण छोड़कर प्रत्येक किरणके लिये चार आना और विशेषांकके लिए आठ आना भिजवाना चाहिए तभी आदेशका पालन हो सकेगा।

—व्यवस्थापक

भूल—

मशीन पर छपते हुए कितने ही फार्मोंमें पृ० २६१ पर लेखक प्रोफेसर जगदीशचन्द्रजीके 'प्रोफेसर' में से "प्रोफे" अक्षर निकल गये हैं कृपया सुधार लीजियेगा।

—व्यवस्थापक

ॐ अर्हम्

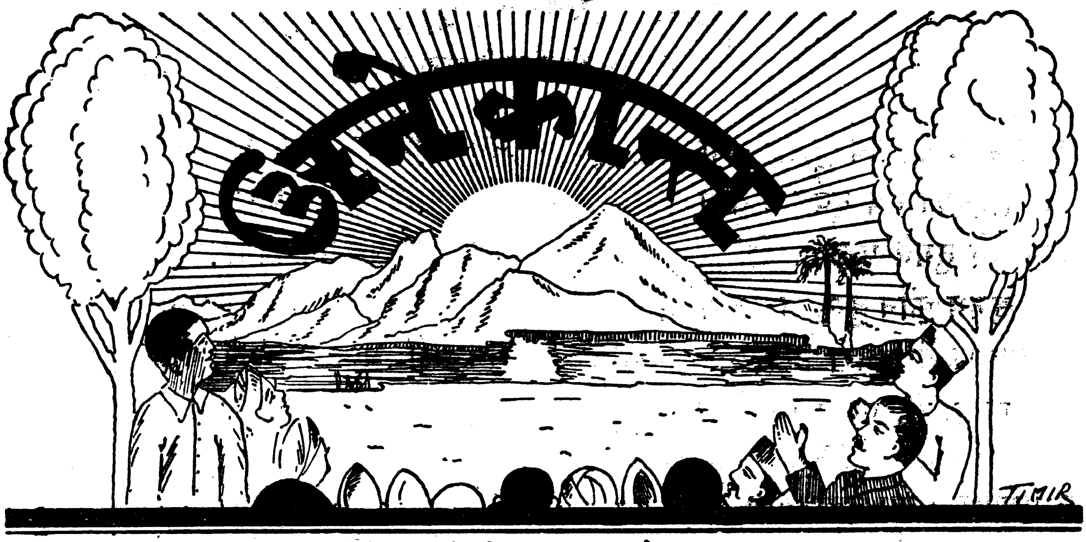

नीति-विरोध-ध्वंसी लोक-व्यवहार-वर्त्तकः सम्यक् ।
परमागमस्य बीजं भुवनैकगुरुर्जयत्यनेकान्तः ॥

वर्ष ३ | सम्पादन-स्थान—वीरसेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम), सरसावा, जि० सहारनपुर | किरण ३
प्रकाशन-स्थान—कनॉट सर्कस, पो० बो० नं० ४८, न्यू देहली
पौष-पूर्णिमा, वीरनिर्वाण सं० २४६६, विक्रम सं० १९९६

सिद्धसेन-स्मरण

जगत्प्रसिद्धबोधस्य वृषभस्येव निस्तुषाः ।
बोधयन्ति सतां बुद्धिं सिद्धसेनस्य सूक्तयः ॥

—हरिवंशपुराणे, जिनसेनसूरिः

श्रीसिद्धसेनाचार्यकी निर्दोष सूक्तियाँ जगत्प्रसिद्ध बोधस्वरूप भ० वृषभदेवकी सूक्तियोंकी तरह सत्पुरुषोंकी बुद्धिको बोध देती है—उसे विकसित करती हैं ।

प्रवादि-करि-यूथानां केशरी नय-केशरः ।
सिद्धसेनकविर्जीयाद्विकल्प-निखरांकुरः ॥

—आदिपुराणे, श्रीजिनसेनाचार्यः

जो प्रवादिरूपी हाथियोंके समूहके लिये विकल्परूप नुकीले नखोंसे युक्त और नयरूप केशरोंको धारण किये हुए केशरीसिंह हैं, वे श्रीसिद्धसेन कवि जयवन्त हों—अपने प्रवचनद्वारा मिथ्यावादियोंके मतोंका निरसन करते हुए, सदा ही लोक-हृदयोंमें अपना सिक्का जमाए रक्खें ।

मदुक्ति-कल्पलतिकां सिंचन्तः करुणामृतैः ।
कवयः सिद्धसेनाद्या वर्धयन्तु हृदिस्थिताः ॥

—यशोधरचरिते, मुनि कल्याणकीर्तिः

हृदयमें स्थित हुए श्रीसिद्धसेन-जैसे कवि मेरी उक्तिरूपी छोटीसी कल्पलताको करुणाऽमृतसे सींचते हुए उसे वृद्धिंगत करें—अर्थात् मैं सिद्धसेन-जैसे महाप्रभावशाली कवियोंको अधिकाधिक-रूपसे हृदयमें धारण करके अपनी वाणीको उत्तरोत्तर पुष्ट और शक्ति-सम्पन्न बनानेमें समर्थ होऊं ।

पुरुषार्थ

[ले०-कविवर श्री मैथिलीशरण गुप्त]

(१)

पुरुष क्या, पुरुषार्थ हुआ न जो,
हृदयकी सब दुर्बलता तजो ।
प्रबल जो तुममें पुरुषार्थ हो,
सुलभ कौन तुम्हें न पदार्थ हो ?
प्रगतिके पथमें विचरो उठो,
पुरुष हो, पुरुषार्थ करो, उठो ॥

(२)

न पुरुषार्थ बिना कुछ स्वार्थ है,
न पुरुषार्थ बिना परमार्थ है ।
समझ लो यह बात यथार्थ है,
कि पुरुषार्थ वही पुरुषार्थ है ।
भुवनमें सुख-शान्ति भरो उठो,
पुरुष हो, पुरुषार्थ करो, उठो

(३)

न पुरुषार्थ बिना वह स्वर्ग है,
न पुरुषार्थ बिना अपवर्ग है ।
न पुरुषार्थ बिना क्रियता कहीं,
न पुरुषार्थ बिना प्रियता कहीं ।
सफलता वर-तुल्य बरो उठो,
पुरुष हो, पुरुषार्थ करो उठो ॥

(४)

न जिसमें कुछ पौरुष हो यहाँ,
सफलता वह पा सकता कहाँ ?
अपुरुषार्थ भयंकर पाप है,
न उसमें यश है न प्रताप है ।
न कृमि-कीट-समान मरो, उठो,
पुरुष हो, पुरुषार्थ करो, उठो ॥

(५)

मनुज-जीवनमें जयके लिये,
प्रथम ही दृढ़ पौरुष चाहिये ।
विजय तो पुरुषार्थ बिना कहाँ,
कठिन है चिर-जीवन भी यहाँ ।
भय नहीं, भवसिन्धु तरो, उठो,
पुरुष हो, पुरुषार्थ करो उठो ॥

(६)

यदि अनिष्ट अड़ें अड़ते रहें,
विपुल विघ्न पड़ें पड़ते रहें ।
हृदयमें पुरुषार्थ रहे भरा,
जलधि क्या, नभ क्या, फिर क्या धरा ।
दृढ़ रहो, ध्रुवधैर्य्य धरो, उठो
पुरुष हो, पुरुषार्थ करो उठो ॥

(७)

यदि अभीष्ट तुम्हें निज सत्व है,
प्रिय तुम्हें यदि मान-महत्व है ।
यदि तुम्हें रखना निज नाम है,
जगतमें करना कुछ काम है ।
मनुज ! तो श्रमसे न डरो, उठो,
पुरुष हो, पुरुषार्थ करो, उठो ॥

(८)

प्रकट नित्य करो पुरुषार्थको,
हृदयसे तज दो सब स्वार्थ को ।
यदि कहीं तुमसे परमार्थ हो,
यह विनश्वर देह कृतार्थ हो ।
सदय हो, पर दुख हरो, उठो,
पुरुष हो, पुरुषार्थ करो, उठो ॥

धवलादि-श्रुत-परिचय

[सम्पादकीय]

धवल-जयधवलके रचयिता

(२)

गत विशेषाङ्कमें यह बतलाया जा चुका है कि धवल-जयधवल मूल ग्रन्थ न होकर संस्कृत-प्राकृत-भाषा-मिश्रित टीकाग्रन्थ हैं, परन्तु अपने अपने मूल ग्रन्थोंको साथमें लिये हुए है। साथ ही, यह भी बतलाया जा चुका है कि वे मूलग्रन्थ कौन हैं, किस भाषाके हैं, कितने कितने परिमाणको लिए हुए हैं और किस किस आचार्यके द्वारा निर्मित हुए हैं अथवा उनके अवतारकी क्या कुछ कथा इन टीका-ग्रन्थोंमें वर्णित है, इत्यादि। आज यह बताया जाता है कि धवलके रचयिता वीरसेनाचार्य और जयधवलके रचयिता वीरसेन तथा जिनसेनाचार्य कौन थे, किस मुनि-परम्परामें उत्पन्न हुए थे, टीकोपयुक्त सिद्धान्त विषयक ज्ञान उन्हें कहांसे प्राप्त हुआ था और उनका दूसरा भी क्या कुछ परिचय इन टीकाग्रन्थों परसे उपलब्ध होता है।

श्रीवीरसेनाचार्य

धवलके अन्तमें एक प्रशस्ति लगी हुई है, जो नवगाथात्मिका है और जिसके रचयिता स्वयं श्री वीरसेनाचार्य जान पड़ते हैं, क्योंकि उसमें अन्तमंगलके तौर पर मंगलाचरण करते हुए 'मए' (मया) और 'मह' (मम) जैसे पदोंका प्रयोग किया गया है और ग्रन्थ-समाप्तिके ठीक समयका बहुत सूक्ष्मरूपसे—उस वक्तकी ग्रहस्थिति तकको स्पष्ट बतलाते हुए—उल्लेख किया है। इस प्रशस्तिकी १ली, ४थी और ५वीं, ऐसी तीन गाथाओंसे वीरसेनाचार्यका कुछ परिचय मिलता है। पहली गाथासे मालूम होता है कि **एलाचार्य** सिद्धान्त-विषयमें वीरसेनके शिक्षा गुरु थे—इस सिद्धान्तशास्त्र (षट्खण्डागम) का विशेष बोध उन्हें उन्हींके प्रसादसे प्राप्त हुआ था, और इसलिये इस विषयका उल्लेख करते हुए वीरसेनाचार्यने उन एलाचार्यके अपने ऊपर प्रसन्न होनेकी भावना की है—प्रकारान्तरसे यह सूचित किया है कि 'जिन श्रीएलाचार्यसे सिद्धान्त-विषयक ज्ञान को प्राप्त करके मैं उनका ऋणी हुआ था, उनके उस ऋणको आज मैं ब्याज (सूद) सहित चुका रहा हूँ, यह देखकर वे मुझ पर प्रसन्न होंगे। चौथी और पांचवी दो गाथाओंमें यह बतलाया है कि जिन वीरसेन मुनि भट्टारकने यह टीका (धवला) लिखी है वे आचार्य आर्यनन्दीके शिष्य तथा चन्द्रसेनके प्रशिष्य थे और 'पंचस्तूप' नामके मुनिवंश * में उत्पन्न हुए थे—उस

***धवलामें अन्यत्र—'कर्म' नामके अनुयोगद्वारमें—वैय्यावृत्यके भेदोंका वर्णन करते हुए, मुनिकुलके १ पंचस्तूप, २ गुहावासी, ३ शालमूल, ४ अशोकवाट, ५ खंडकेसर, ऐसे पंच भेद किये हैं। यथा—**

"तत्थ कुलं पंचविहं पंचथूहकुलं, गुहावासीकुलं सालमूलकुलं असोगवादकुलं खंडकेसरकुलचेदि।"

'पंचस्तूप' नामक मुनिवंशके मुनियोंका मूलनिवास-स्थान पंचस्तूपोंके पास था, ऐसा इन्द्रनन्दि श्रुतावतारके 'पंचस्तूप्यनिवासादुपागता येऽनगारिणः" जैसे

वंशरूपी आकाशमें सूर्यके समान थे। साथ ही, सिद्धांत, छंद, ज्योतिष, व्याकरण और प्रमाण(न्याय)-विषयक शास्त्रोंमें वे निपुण थे। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वीरसेनके दीक्षागुरु चन्द्रसेनाचार्यके शिष्य **आर्यनन्दी** थे और इसलिये उनकी गुरुपरम्परा **चन्द्रसेनाचार्य** से प्रारम्भ होती है—एलाचार्यसे नहीं। एलाचार्यके विषयमें यह भी नहीं कहा जा सकता कि वे पंचस्तूपान्वयमें उत्पन्न हुए थे—वे मात्र सिद्धान्त-विषयमें वीरसेनके विद्यागुरु थे, इतना ही यहां स्पष्ट जाना जाता है। इन्द्रनन्दि-श्रुतावतारमें उन्हें चित्रकूट-पुरका निवासी लिखा है, इससे भी वे पंचस्तूपान्वयी मुनियोंसे भिन्न जान पड़ते हैं।

प्रशस्तिकी शेष गाथाओंमें से दूसरीमें 'वृषभसेन' का, तीसरीमें अर्हत्सिद्धादि परमेष्ठियोंका अन्त्यमंगल-के तौर पर स्मरण किया गया है और अन्तकी चार गाथाओंमें टीकाकी समाप्तिका समय, उस समयकी राज्यस्थितिका कुछ निर्देश करते हुए, दिया है—अर्थात् यह बतलाया है कि यह धवला टीका शक संवत् ७३८ में कार्तिक शुक्ल त्रयोदशीके दिन उस समय समाप्त की गई है जब कि तुलालग्नमें सूर्य बृहस्पतिके साथ था तथा बुधका वहां अस्त था, शनिश्चर धनुराशिमें था, राहुके साथ मंगल कुम्भराशिमें था, चन्द्रमा मीनराशि का और शुक्र कुम्भराशिका था; जगतुंगदेव (गोविन्द तृतीय) आसन छोड़ चुके थे और उनके उत्तराधिकारी राजा बोद्दणराय (अमोघवर्ष प्रथम) जो कि नरेन्द्रचूड़ा-मणि थे, राज्यासनपर आरूढ हुए उसका उपभोग कर रहे थे। प्रशस्तिकी कुछ गाथाओंमें लेखकोंकी कृपा-से कोई कोई पद अशुद्ध पाये जाते हैं। प्रो० हीरालाल जीने भी, 'धवला' का सम्पादन करते हुए उनका अनुभव किया है और अपने यहांके प्रवीण ज्योतिर्विद श्रीयुत पं० प्रेमशंकरजी दबेकी सहायतासे प्रशस्तिके ग्रहस्थिति-विषयक उल्लेखोंका जांच पड़तालके साथ संशोधनकार्य किया है, जो ठीक जान पड़ता है। साथ ही, यह भी मालूम किया है कि चूंकि केतु हमेशा राहुसे सप्तम स्थान पर रहता है इसलिये केतु उस समय सिंहराशि पर था। और इस तरह प्रशस्तिपरसे ग्रन्थकी जन्मकुण्डलीकी सारी ग्रहस्थिति स्पष्ट हो जाती है। अस्तु, यह पूर्ण प्रशस्ति अपने संशोधित रूप-सहित, जिसे ब्रैकट (कोष्ठक)में दिखलाया गया है, आराकी प्रतिके अनु-सार इस प्रकार है—

जस्स से(प)साएण मए सिद्धंतमिदं हि अहिलहुंदी (लिहिदं)।
महु सो एलाइरियो पसियउ वरवीरसेणस्स ॥१॥
वंदामि उसहसेणं तिहुवणजिय-बंधवं सिवं संतं।
णाण-किरणावहासिय-सयल-इयर-तम पणासियं दिट्ठं॥२
अरहंतपदो (अरहंतो) भगवंतो सिद्धा सिद्धापसि-द्धयाइरिया। साहू साहू य महं पसी(सि)यंतु भडारया सव्वे ॥ ३ ॥ अज्जज्जणंदिसिस्सेणुज्जवकम्मस्स चंदसेणस्स। तह णत्तुवेण पंचत्थूहण्णयभाणुणा मुणिणा ॥ ४ ॥ सिद्धंत-छंद-जोइस-वायरण-पमाण-सत्थ-णिवुणेण। भट्टारएण टीका लिहिएसा वीरसेणेण॥५

वाक्यसे पाया जाता है। इसीसे उन मुनियोंके वंशकी 'पंचस्तूपान्वय' संज्ञा पड़ी; परन्तु ये पंचस्तूप कहां थे, इसका कोई ठीक पता नहीं चलता। साथ ही, उक्त श्रु-तावतारमें उद्धृत पुरातन वाक्योंके "पंचस्तूप्यास्तत: सेना:" "पंचस्तूप्यास्तु सेनानां" जैसे अंशोंसे यह भी जाना जाता है कि पंचस्तूपान्वय सेनसंघका ही विशेष अथवा नामान्तर है। वीरसेनकी गणना भी सेनसंघके आचार्योंमें ही की जाती है—सेनसंघकी पट्टावलीमें उनके नामका निर्देश है।

अट्ठत्तीसम्हि सासिय(सतसए) विक्कमरायम्हिए(अंकिए)
सुसंगरमो (सगणामे) ।
पा(वा)से सुतेरसीए भाव (ए)-विलग्गे धवल-पक्खे ॥
जगतुंगदेवरज्जे रियम्हि कुंभम्हि राहुणा कोणे ।
सूरे तुलाए संते (ते)गुरुम्हि कुलविल्लए होंते ॥७॥
चावम्हि व(त)रिणवुत्ते सिंघे सुक्कम्मि णेमि(मीण)
चंदम्मि ।
कत्तियमासे एसा टीका हु समाणिला (आ) धवला ॥८॥
बोद्दणरायणरिंदे णरिंदचूडामणिम्हि भुंजंते ।
सिद्धंथगंथमत्थिय गुरुप्पसाएण विगता सा ॥९॥

इस प्रशस्तिके बाद एक संस्कृतका प्रशस्ति-पद्य और दिया है, जो संभवतः वीरसेनाचार्यके किसी शिष्य-की—प्रायः जिनसेनकी—कृति जान पड़ता है, और वह इस प्रकार है:—

शब्दब्रह्मेति शाब्दैर्गणधरमुनिरित्येव राद्धान्तविद्भिः
साक्षात्सर्वज्ञ एवेत्यवहितमतिभिः सूक्ष्मवस्तुप्रणीतो (णीतौ)
यो दृष्टो विश्वविद्यानिधिरिति जगति प्राप्त भट्टारकाख्यः
स श्रीमान्वीरसेनो जयति परमतध्वांतभित्तंत्रकारः ॥१॥

इसमें बतलाया है कि—'[illegible]'शब्द ब्रह्म' के रूपमें, [illegible] 'गणधरमुनि' के रूपमें, [illegible] '[illegible]' के रूपमें और [illegible] '[illegible]' के रूपमें देखा—अनुभव किया—और [illegible] 'भट्टारक' नाम[illegible] वाले [illegible] वीर-सेनाचार्य [illegible] प्रकारसे अपना [illegible] है।

[illegible] पायी गई है जो संस्कृत तथा [illegible] ४३ [illegible] है—अर्थात्

प्रथमकी पांच गाथाएँ* प्राकृतकी और शेष सब पद्य संस्कृत भाषाके हैं। इसके रचयिता वीरसेनके शिष्य जिनसेन हैं और इसमें टीका-नाम, अन्त्य-मंगलाचरण तथा ग्रन्थकी समाप्तिके समयादिकी सूचनाओंके साथ वीरसेन और जिनसेन दोनों आचार्योंका कुछ-कुछ परि-चय भी दिया हुआ है। श्रीवीरसेनाचार्यके परिचय-विषयक मुख्य पद्य आराके सिद्धान्त-भवनकी प्रतिके अनुसार इस प्रकार हैं:—

‡ श्रीवीरसेन इत्यात्त-भट्टारक-पृथुप्रथः ।
पारदृश्वाधिविश्वानां साक्षादिव स केवली ॥१९॥
प्रीणित-प्राणिसंपत्तिराक्रांताशेषगोचरा ।
भारती भारतीवाज्ञा षट्खण्डे यस्य नाऽस्खलत् ॥२०॥
यस्य नैसर्गिकीं प्रज्ञां दृष्ट्वा सर्वार्थगामिनीं ।
जाता सर्वज्ञसद्भावे निरारेका मनीषिणः ॥२१॥
यं प्राहुः प्रस्फुरद्बोध-दीधिति-प्रसरोदयं ।
श्रुतकेवलिनं प्राज्ञाः प्रज्ञाश्रमणसत्तमं ॥२२॥
प्रसिद्ध [सिद्ध] सिद्धांत-वार्धिवाधौत शुद्धधीः ।
सार्द्धं प्रत्येकबुद्धैर्यः स्पर्धते धीद्धबुद्धिभिः ॥२३॥

---

* पहली गाथा टीका-नामादि-विषयक है और वह निम्न प्रकार है; शेष गाथाएँ श्रुतदेवताके स्मरणा-दिसे सम्बन्ध रखती हैं—

एत्थ समप्पइ धवलियतिहुवणभवणा पसिद्धमाहप्पा ।
पाहुडसुत्ताणमिमा जयधवला सण्णिया टीका ॥१॥

‡ इस पद्यसे पहले वीरसेन-विषयक दो पद्य और हैं, जो निम्न प्रकार हैं—

भूयादावीरसेनस्य वीरसेनस्य शासनं ।
भूयादावीरसेनस्य वीरसेनस्य शासनं (?) ॥१७॥
आसीदास दुदासन्नभव्यसत्वकुमुद्वतीं ।
मुद्वतीं कर्तुमीशो यः शशांक इव पुष्कलः ॥१८॥

पुस्तकानां चिरंतानां गुरुत्वमिह कुर्वता ।
ये नातिशायिताः पूर्वे सर्वे पुस्तकशिष्यकाः ॥२४॥
यस्तपोदीप्तकिरणैर्भव्यांभोजानि बोधयन् ।
व्यद्योतिष्ट मुनीनेनः पंचस्तूपान्वयाम्बरे ॥२५॥
प्रशिष्यश्चन्द्रसेनस्य यः शिष्योप्यार्यनंदिनां ।
कुलं गणं च संतानं स्वगुणैरुदजिज्वलत् ॥२६॥

इन पद्योंमें बतलाया है कि—'श्री वीरसेनाचार्य भट्टारक पदकी महाख्यातिको प्राप्त थे और साक्षात् केवलीकी तरह अधिकांश विद्याओंके पारदृष्टा थे। उनकी अशेष विषयोंसे परिपूर्ण तथा प्राणिसम्पत्तिको—प्राणियों में उत्कर्षको प्राप्त मानवसंततिको अथवा प्राणिसमूहको—संतुष्ट करनेवाली भारती(वाणी)सिद्धान्तागमके षट्खण्डों में उसी प्रकारसे निर्बाध प्रवर्तती थी जिस प्रकार कि भरत चक्रवर्तीकी आज्ञाभरतक्षेत्रके छहोंखण्डोंमें अखण्डितरूप से वर्तती थी—अर्थात् जिस तरह भरत चक्रीकी आज्ञा छहों खण्डोंमें प्रमाण मानी जाती थी उसी तरह वीरसेनाचार्यकी वाणीभी षट्खण्डागमके विषयमें प्रमाण मानी जाती थी। उनकी सर्वपदार्थोंमें प्रवेश करनेवाली स्वाभाविक बुद्धिको देखकरबुद्धिमान लोग सर्वज्ञके विषयमें शंकारहति होगये थे। वे प्रकर्षरूपसे स्फुरायमान ज्ञानकी किरणोंके प्रसारको लिये हुए थे और इसलिये विद्वान् जन उन्हें श्रुतकेवली तथा प्रज्ञाश्रमणोंमें उत्तम कहते थे। उनकी बुद्धि प्रसिद्ध और सिद्ध ऐसे सिद्धान्त-समुद्रके जलसे धुलकर शुद्ध हुई थी, और इसलिये वे तीव्र बुद्धिके धारक प्रत्येक बुद्धोंके साथ स्पर्धा करते थे। उन्होंने प्राचीन पुस्तकोंके गौरवको बढ़ाया था और वे अपने पूर्वके सभी पुस्तकशिष्यों-पुस्तकपाठियों अथवा पुस्तकों-द्वारा ज्ञान प्राप्त करनेवालोंमें बढ़े चढ़े थे। वे मुनिराज-रूपी सूर्य अपने तपकी देदीप्यमान किरणोंसे भव्यजनरूपी कमलोंको विकसित करते हुए पंचस्तूपान्वयरूपी आकाश-में सविशेष रूपसे उद्योतको प्राप्त हुए थे। वे चन्द्रसेनके प्रशिष्य तथा आर्यनन्दीके शिष्य थे और उन्होंने अपने कुल, गण तथा सन्तान (शिष्यसमूह) को अपने गुणोंसे उज्वल किया था।

यह परिचय कुछ अतिशयालंकारसे युक्त होनेपर भी बहुत कुछ तथ्यपूर्ण जान पड़ता है और इसका कितना ही अनुभव वीरसेनाचार्यकी धवला और जय-धवला ऐसी दोनों टीकाओंको देखनेसे हो सकता है। इस परिचयमें भी वीरसेनको पंचस्तूपान्वयी चन्द्रसेनके प्रशिष्य तथा आर्यनन्दीके शिष्य सूचित किया है। साथ ही, एलाचार्यका गुरुरूपसे कोई उल्लेख ही नहीं किया, जिसका यह स्पष्ट अर्थ जान पड़ता है कि वीरसेनाचार्य-की गुरुपरम्परा उक्त चन्द्रसेनाचार्यसे ही प्रारंभ होती है, एलाचार्यसे नहीं—एलाचार्यसे उन्हें प्रायः षट्खण्डा-गमविषयक ज्ञानकी ही प्राप्ति हुई थी, जयधवलके आ-धारभूत कषायप्राभृतके ज्ञानकी प्राप्ति नहीं।

वीरसेनाचार्य जयधवलाको पूरी नहीं कर सके, वे उसका पूर्वार्ध ही—जो कि प्रायः २० हज़ार श्लोक परिमाण है—लिख पाये थे कि उनका स्वर्गवास होगया, और इसलिये उत्तरार्धको—जो कि ४० हज़ार श्लोक-परिमाण है--उनके शिष्य वीरसेनने लिखकर समाप्त किया है। समाप्तिका समय शक संवत् ७५९ फाल्गुन शुक्ला दशमीके पूर्वान्हका है,जबकि नन्दीश्वर महोत्सवके अवसर पर—अर्थात् अष्टान्हिका पर्वमें—महान् पूजा-विधान प्रवर्त रहा था, और गुर्जरराजा अमोघवर्षका राज्य था। उन्हींके राज्यके वाटग्राम नगरमें यह सूत्रार्थ-दर्शिनी 'जयधवला' टीका, जिसे 'वीरसेनीया' नाम भी दिया गया है, उक्त समय पर समाप्त की गई है, जैसा कि प्रशस्तिके निम्न पद्योंसे प्रकट है—

इति श्रीवीरसेनीया टीका सूत्रार्थदर्शिनी ।
वाटग्रामपुरे श्रीमद्गुर्जरार्यानुपालिते ॥६॥

फाल्गुने मासि पूर्वान्हे दशम्यां शुक्लपक्षके ।
प्रवर्धमानपूजोरुनन्दीश्वरमहोत्सवे ॥७॥
अमोघवर्षराजेन्द्र-प्राज्यराज्य-गुणोदया ।
निष्ठिता प्रचयं (?) यायादाकल्पान्तमनल्पिका ॥८॥
षष्ठिरेवसहस्राणि ग्रन्थानां परिमाणतः ।
श्लोकानुष्टभेनात्र निर्दिष्टान्यनुपूर्वशः ॥९॥
विभक्तिः प्रथमस्कंधो द्वितीयः संक्रमोदयौ ।
उपयोगश्च शेषास्तु तृतीयः स्कन्ध इष्यते ॥१०॥
एकान्नषष्ठिसमधिकसप्तशताब्देषु शकनरेन्द्रस्य ।
समतीतेषु समाप्ता जयधवला प्राभृतव्याख्या ॥११॥

यह बात ऊपर बतलाई जाचुकी है कि धवला टीका शकसंवत ७३८में बनकर समाप्त हुई थी, उसके बाद ही यदि जयधवला टीका प्रारम्भ करदी गई थी, जिसका उसके अनन्तर प्रारम्भ होना बहुत कुछ स्वाभाविक जान पड़ता है, तो यह कहना होगा कि जयधवलाके निर्माणमें प्रायः २१ वर्षका समय लगा है। चूँकि इसका एक तिहाई भाग ही वीरसेनाचार्य लिख पाये थे, इसलिये वे धवलाके निर्माणके बाद प्रायः ७ वर्ष तक जीवित रहे हैं, और इससे उनका अस्तित्व-काल प्रायः शक संवत ७४५ तक जान पड़ता है।

इस तरह यह वीरसेनाचार्यका धवल-जयधवलके आधार पर संक्षिप्त परिचय है। अब जिनसेनाचार्यके परिचयको भी लीजिये।

श्री जिनसेनाचार्य

जयधवलके उत्तरार्धके निर्माता ये जिनसेनाचार्य वे ही जिनसेनाचार्य हैं जो प्रसिद्ध आदिपुराण ग्रंथके रचयिता हैं और प्रायः भगवज्जिनसेनके नामसे उल्लेखित किये जाते है। आदिपुराणमें भी इन्होंने "**श्रीवीरसेन इत्यात्त भट्टारकपृथुप्रथः**" इत्यादि वाक्योंके द्वारा श्रीवीरसेनाचार्यका अपने गुरुरूपसे स्मरण किया है और साथ ही आपकी 'धवला' भारतीको स्पष्टरूपसे नमस्कार भी किया है *। वीरसेनके शिष्य होनेसे ये भी पंचस्तूपान्वयी आचार्य हैं और इसलिये इनकी भी गुरुपरम्परा चन्द्रसेनाचार्यसे प्रारम्भ होती है—एलाचार्यसे नहीं। 'विद्वद्रत्नमाला' में उसका एलाचार्यसे *प्रारम्भ होना जो लिखा है वह ठीक नहीं है।*

जयधवलाकी उक्त प्रशस्तिमें, वीरसेनका परिचय देनेके बाद, जिनसेनको वीरसेनका शिष्य बतलाते हुए, जो परिचयका प्रथम पद्य दिया है वह इस प्रकार है—

तस्य शिष्यो भवेच्छ्रीमान् जिनसेनः समिद्धधीः ।
आविद्धावपि यत्करणौ विद्धौ ज्ञानशलाकया ॥ २७ ॥

इससे मालूम होता है कि श्रीजिनसेन वीरसेनाचार्यके तीव्रबुद्धि शिष्य थे। साथ ही, यह भी मालूम होता है कि आप आविद्धकर्ण थे अर्थात् आपके दोनो कान बिंधे हुए थे, फिर भी आपके कान पुनः ज्ञान-शलाका से विद्ध किये गये थे, जिसका भाव यही जान पड़ता है कि मुनि-दीक्षाके बाद अथवा पहले आपको गुरुका खास उपदेश मिला था और उससे आपको बहुत कुछ प्रबोधकी प्राप्ति हुई थी।

आप बाल-ब्रह्मचारी थे—बाल्यावस्थासे ही आपने

---

* **आदिपुराणके वे पद्य इस प्रकार हैं:—**

श्रीवीरसेन इत्यात्त-भट्टारकपृथुप्रथः ।
स नः पुनातु पूतात्मा वादिवृन्दारको मुनिः ॥५५॥
लोकवित्वं कवित्वं च स्थितं भट्टारके द्वयं ।
वाग्मिता वाग्मिनो यस्य वाचा वाचस्पतेरपि ॥५६॥
सिद्धान्तोपनिबन्धानां विधातुर्मद्गुरोश्चिरम् ।
मन्मनःसरसि स्थेयान्मृदुपादकुशेशयम् ॥ ५७ ॥
धवलां भारतीं तस्य कीर्तिं च शुचि-निर्मलाम् ।
धवलीकृतनिःशेषभुवनां तां नमाम्यहम् ॥ ५८ ॥

अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रतका पालन किया था। अतिसुन्दराकार और अतिचतुर न होने पर भी सरस्वती आप पर मुग्ध थी और उसने अनन्य-शरण होकर उस समय आपका ही आश्रय लिया था। साथ ही, आसन्न भव्य होनेकी वजहसे, मुक्तिलक्ष्मीने स्वयंवराकी तरह उत्सुक होकर आपके कण्ठमें श्रुतमाला डाली थी। इस अलंकृत भावको प्रशस्तिके नीचे लिखे पद्योंमें प्रकट किया गया है—

अस्मिन्नासन्नभव्यत्वान्मुक्तिलक्ष्मीः समुत्सुका।
स्वयंवरितुकामेव श्रौतिं मालामयूयुजत् ॥ २८ ॥
येनानुचरितं बाल्याद् ब्रह्मव्रतमखंडितम्।
स्वयंवरविधानेन चित्रमूढा सरस्वती ॥ २९ ॥
यो नातिसुन्दराकारो न चातिचतुरो मुनिः।
तथाप्यनन्यशरणाऽयं सरस्वत्युपाचरत् ॥ ३० ॥

जिनसेन स्वभावसे ही बुद्धिमान्, शान्त और विनयी थे, और इन (बुद्धि, शांति, विनय) गुणोंके द्वारा आपने अनेक आचार्योंका आराधन किया था—अर्थात् इन गुणोंके कारण कितने ही आचार्य उस समय आप पर प्रसन्न थे। आप शरीरसे यद्यपि पतले-दुबले थे, तो भी तपोगुणके अनुष्ठानमें कमी नहीं करते थे। शरीरसे कृश होने पर भी आप गुणोंमें कृश नहीं थे। आपने कपिल सिद्धान्तोंको—सांख्यतत्त्वोंको—ग्रहण नहीं किया और न उनका भले प्रकार चिंतन ही किया, तो भी आप अध्यात्म-विद्या-समुद्रके उत्कृष्ट पारको पहुंच गये थे। आपका समय निरन्तर ज्ञानाराधनमें ही व्यतीत हुआ करता था, इसीसे तत्त्वदर्शीजन आपको ज्ञानमय पिण्ड कहते थे। इन सब बातोंके द्योतक पद्य, प्रशस्तिमें, इस प्रकार हैं—

धीः शमो विनयश्चेति यस्य नैसर्गिकाः गुणाः।
सूरीनाराधयंति स्म गुणैराराध्यते न कः ॥ ३१ ॥
यः कृशोऽपि शरीरेण न कृशोभूत तपोगुणैः।
न कृशत्वं हि शारीरं गुणैरेव कृशः कृशः ॥ ३२ ॥
यो नाग्रहीत्कापलिकान्नाप्यचिन्तयदंजसा।
तथाप्यध्यात्म विद्याब्धेः परं पारमशिश्रियत् ॥३३॥
ज्ञानाराधनया यस्य गतः कालो निरन्तरं।
ततो ज्ञानमयं पिण्डं यमाहुस्तत्त्वदर्शिनः ॥ ३४ ॥

जिनसेनने जयधवला टीकाके उत्तर-भागको अपने गुरु (वीरसेन) की आज्ञासे लिखा था। गुरुने उत्तर-भागका बहुत कुछ वक्तव्य प्रकाशित किया था। उसे देखकर ही अल्प वक्तव्यरूप यह उत्तरार्ध आपने पूर्ण किया है, जो प्रायः प्राकृत भाषामें है और कहीं कहीं संस्कृत मिश्र भाषाको लिये हुए हैं; ऐसा आप स्वयं प्रशस्तिके निम्न पद्यों-द्वारा सूचित करते हैं--

तेनेदमनतिप्रौढमतिना गुरुशासनात्।
लिखितं विशदैरेभिरक्षरैः पुण्य शासनम् ॥३५ ॥
गुरुणार्धेऽग्रिमे भूरिवक्तव्ये संप्रकाशिते।
तन्निरीक्ष्याल्पवक्तव्यः पश्चार्धस्तेन पूरितः ॥ ३६ ॥
प्रायः प्राकृतभारत्या क्वचित्संस्कृतमिश्रया।
मणिप्रवालन्यायेन प्रोक्तोऽयं ग्रंथविस्तरः ॥ ३७ ॥

कुछ आगे चलकर आपने यह प्रकट करते हुए कि 'सर्वज्ञोदित इस सत्य प्रवचनमें, जोकि प्रस्पष्ट तथा मृष्ट (पवित्र) अक्षरोंको लिये हुए हैं, अत्युक्त अनुक्त-दुरुक्तादिक–जैसी कोई बात नहीं है, अपनी टीकाके सम्बन्धमें यह भी बतलाया है कि थोड़े ही अक्षरों-द्वारा सूत्रार्थका विवेचन करनेमें हम जैसोंकी टीका उक्त, अनुक्त और दुरुक्तका चिन्तन करने वाली (वार्तिकरूप) टीका नहीं हो सकती। इसलिये पूर्वापर-शोधनके साथ हम जैसोंका जो शनैः शनैः (शनकैस्) टीकन है, उसीको बुधजन टीकारूपसे ग्रहण करें, यही हमारी पद्धति है। साथ ही, यह भी प्रकट किया है कि छद्म-

स्थताके दोषके कारण जो कुछ इस टीकामें दुरुक्त रूपसे रचा गया हो वह सब आगम धनी विद्वानोंके द्वारा परिशोधन किये जानेके योग्य है और जो निर्दोष है वही ग्रहण किया जाना चाहिये। यथा—

***अस्त्युक्तं किमिहास्त्यनुक्तमथवा किं वा दुरुक्तादिकं,**
सर्वज्ञोदित-सूनृत-प्रवचने प्रस्पष्टमृष्टाक्षरे ।
तत्सूत्रार्थविवेचने कतिपयैरेवाक्षरैर्मादृशां,
उक्तानुक्तदुरुक्तचिन्तनपरा टीकेति कः संभवः ॥४१॥
तत्पूर्वापरशोधनेन शनकैर्यन्मादृशां टीकनं,
सा टीकेत्यनुगृह्यतां बुधजनैरेषा हि नः पद्धतिः ।
यत्किंचिच्च दुरुक्तमत्र रचितं छाद्मस्थ्यदोषोदयात्,
तत्सर्वं परिशोध्यमागमधनैर्ग्राह्यं च यन्निस्तुषं ॥४२॥

इन पद्योंमें आए हुए '**मादृशां**' (हम जैसोंकी) और '**नः**' (हमारी) शब्दोंसे यह बात साफ़तौरसे उद्घोषित होती है कि यह प्रशस्ति जयधवला टीकाके उत्तर-भागके रचयिता स्वयं श्रीजिनसेनाचार्यकी बनाई हुई है और इसके द्वारा उन्होंने आत्म-परिचय दिया है, जिससे विज्ञ पाठक आचार्य महोदयकी शारीरिक, मानसिक और बुद्ध्यादि-विषयक स्थितिका बहुत कुछ अनुभव कर सकते हैं।

प्रशस्तिमें टीकाका नाम कहीं '**वीरसेनीया**' और कहीं 'जयधवला' दिया है। साथ ही, अन्तिम पद्यसे पहले निम्न आशीर्वादात्मक पद्यमें उसे अन्य विशेषणों-के साथ 'श्रीपाल-सम्पादिता' भी बतलाया है—

श्रीवीरप्रभुभाषितार्थघटना निर्लोडितान्यागम—
न्याया श्रीजिनसेनसन्मुनिवरैरादर्शितार्थ स्थितिः।
टीका श्रीजयचिन्हितोरुधवलासूत्रार्थसंद्योतिनी,
स्थेयादारविचन्द्रमुज्वलतपः श्रीपालसंपादिता ॥४३॥

इस परसे श्रीयुत पं० नाथूराम जी प्रेमीने अपनी 'विद्वद्रत्नमाला' में यह निष्कर्ष निकाला है कि—

"वास्तवमें कषायप्राभृतकी जो वीरसेन और जिन-सेनस्वामीकृत ६० हज़ार श्लोक-प्रमाण टीका है, उस का नाम तो 'वीरसेनीया' है; और इस वीरसेनीया टीका-सहित जो कषायप्राभृतके मूल सूत्र और चूर्णिसूत्र, वार्तिक वगैरह अन्य आचार्योंकी टीकाएँ हैं, उन सबके संग्रहको 'जयधवला' टीका कहते हैं। यह संग्रह 'श्रीपाल' नामके किसी आचार्यने किया है, इसीलिये जयधवलाको 'श्रीपालसम्पादिता' विशेषण दिया है।"

प्रेमीजीका यह निष्कर्ष ठीक नहीं है, और उसके निकाले जानेकी वजह यही मालूम होती है कि उस समय आपके सामने पूरी प्रशस्ति नहीं थी। आपको आगे पीछेके कुछ ही पद्य उपलब्ध हुए थे, जिन्हें आपने अपनी पुस्तकमें उद्धृत किया है। जान पड़ता है आप उन्हीं पद्योंको उस समय पूरी प्रशस्ति समझ गये हैं और उन्हींके आधारपर शायद आपको यह भी खयाल होगया है कि यह प्रशस्ति 'श्रीपाल' आचार्यकी बनाई है। परन्तु बात ऐसी नहीं है। यह प्रशस्ति श्रीपाल आचार्यकी बनाई हुई नहीं है, जैसा कि ऊपरके अवतरणोंमें '**मादृशां**' आदि शब्दोंसे प्रकट है। और न श्रीपालके उक्त संग्रह का नाम ही 'जयधवला' टीका है। बल्कि वीरसेन और जिनसेनकी इस ६० हजार श्लोक-संख्यावाली टीकाका असली नाम ही 'जयधवला' है, ऐसा खुद जिनसेन ने प्रशस्तिके उक्त पद्य नं० १ व ११ में स्पष्ट रूपसे

*** इस पद्यसे पूर्वके तीन पद्य इस प्रकार हैं:—**
ग्रन्थच्छायेति यत्किंचिदत्युक्तमिह पद्धतौ ।
क्षन्तुमर्हथ तत्पूज्या दोषं ह्यर्थी न पश्यति ॥३८॥
गाथासूत्राणि सूत्राणि चूर्णिसूत्रं तु वार्तिकं ।
टीका श्रीवीरसेनीया शेषाः पद्धतिपंजिकाः ॥३९॥
ते सूत्रसूत्र तद्वृत्ति विवृती वृत्तिपद्धती ।
कृत्स्नाकृत्स्नश्रुतव्याख्ये ते टीकापंजिके स्मृते॥४०

सूचित किया है। वीरसेनस्वामीने चूंकि इस टीकाको प्रारम्भ किया था और इसका एकतिहाई भाग (२० हज़ार श्लोक) लिखा भी था; साथ ही, टीकाका शेष भाग, आपके देहावसानके पश्चात्, आपके ही प्रकाशित वक्तव्यके अनुसार पूरा किया गया है, इसलिये गुरु-भक्तिसे प्रेरित होकर श्रीजिनसेनस्वामीने इस समूची टीकाको आपके ही नामसे नामांकित किया है और 'वीरसेनीया' भी इसका एक विशेषण दिया है। इन्द्र-नन्दिकृत 'श्रुतावतार' और विबुध श्रीधरकृत 'गद्य-श्रुतावतार'के उल्लेखोंसे भी इसी बातका समर्थन होता है कि वीरसेन और जिनसेनकी बनाई हुई ६० हज़ार श्लोक संख्यावाली टीकाका नाम ही 'जयधवला' टीका है। यथा—

···जयधवलैवं षष्ठिसहस्रग्रन्थोऽभवट्टीका।

—इन्द्रनन्दिश्रुतावतार

···अमुना प्रकारेण षष्ठिसहस्रप्रमिता जयधवला-नामाङ्किता टीका भविष्यति।

—श्रीधर-गद्यश्रुतावतार०

यदि प्रेमीजी द्वारा सूचित उक्त संग्रहका नाम ही 'जयधवला' होता तो उसकी श्लोकसंख्या ६० हज़ार न होकर कई लाख होनी चाहिये थी। परन्तु ऐसा नहीं है। ऊपर के अवतरणों एवं प्रशस्तिके पद्य नं०६ में साफ़ तौरसे ६० हजार श्लोक-संख्याका ही जयधवलाके साथ उल्लेख है—साक्षात् देखनेपर भी वह इतने ही प्रमाणकी जान पड़ती है। और भी अनेक ग्रन्थोंमें इस टीकाका नाम जयधवला ही सूचित किया है *। इसके सिवाय, वीरसेन स्वामीकी दूसरी सिद्धान्त-टीकाका नाम 'धवला' है। धवलासे मिलता-जुलता ही नाम जयधवला है, जो उनकी दूसरी टीकाके लिये बहुत कुछ समुचित प्रतीत होता है। और इस दूसरी टीकाके '**जयइ धवलंग-तेये**' इत्यादि मंगलाचरणसे भी इस नामकी कुछ ध्वनि निकलती है। अतः इन सब बातोंसे टीकाका असली नाम 'वीरसेनीया' न होकर 'जयधवला' ठीक जान पड़ता है। 'वीरसेनीया' एक विशेषण है जो पीछे से जिनसेनके द्वारा इस टीकाको दिया गया है।

अब रही '**श्रीपाल-संपादिता**' विशेषणकी बात, उससे प्रेमीजीके उक्त निष्कर्षको कोई सहायता नहीं मिलती। श्रीपाल नामके एक बहुत बड़े यशस्वी विद्वान जिनसेनके समकालीन हो गये हैं। प्रशस्तिके अन्तिम पद्यमें आपके यशकी (सत्कीर्तिकी) उपमा भी दी गई है। वह पद्य इस प्रकार है—

सर्वज्ञप्रतिपादितार्थगणभृत्सूत्रानुटीकामिमां,
येऽभ्यस्यन्ति बहुश्रुताः श्रुतगुरुं संपूज्य वीरं प्रभुं।
ते नित्योज्वलपद्मसेनपरमाः श्रीदेवसेनार्चिताः,
भासन्ते रविचन्द्रभासिसुतपाः श्रीपालसत्कीर्तयः॥४४॥

आदिपुराणमें भी आपके निर्मल गुणोंका कीर्तन किया गया है और आपको भट्टाकलंक तथा पात्रकेसरी-जैसे विद्वानोंकी कोटिमें रखकर यह बतलाया गया है कि आपके निर्मल गुण हारकी तरहसे विद्वानोंके हृदयमें आरूढ़ रहते हैं। यथा—

भट्टाकलंक-श्रीपाल-पात्रकेसरिणां गुणाः।
विदुषां हृदयारूढा हारायन्तेऽतिनिर्मलाः॥

इससे स्पष्ट है कि श्रीपाल एक ऐसे प्रभावशाली आचार्य थे जिनका सिक्का अच्छे-अच्छे विद्वान् लोग मानते थे। जिनसेनाचार्य भी आपके प्रभावसे प्रभावित थे। उन्होंने अपनी इस टीकाको लिखकर आप ही से उसका सम्पादन (संशोधनादिकार्य) कराना उचित

---

* ···**ये कृत्वा धवलां जयादिधवलां सिद्धान्तटीकं सतीं**
···**वन्दध्वं वरवीरसेन-जिनसेनाचार्य वर्यान्बुधान्**
—**क्षपणासारटीकायां, माधवचन्द्रः**

समझा है और इस तरह पर एक गहन विषयके सैद्धान्तिक ग्रन्थकी टीका पर एक प्रसिद्ध और बहुमाननीय विद्वानके नामकी (सम्पादनकी) मुहर प्राप्त करके उसे विशेष गौरवशालिनी और तत्कालीन विद्वत्समाजके लिए और भी अधिक उपयोगिनी तथा आदरणीय बनाया है। यही **'श्रीपाल-सम्पादिता'** विशेषणका रहस्य जान पड़ता है। और इसलिये इससे यह स्पष्ट है कि एक सम्पादकको किसी दूसरे विद्वान लेखककी कृतिका उसके इच्छानुसार सम्पादन करते समय, ज़रूरत होनेपर, उसमें संशोधन, परिवर्तन, परिवर्धन, स्पष्टीकरण, भाषा-परिमार्जन और क्रम-स्थापन आदिका जो कार्य करना होता है, यथासम्भव और यथावश्यकता, वह सब कार्य इस टीकामें विद्वद्रत्न श्रीपाल द्वारा किया गया है। उनकी भी इस टीकामें कहीं कहीं पर ज़रूर क़लम लगी हुई है। यही वजह है कि उनका नाम सम्पादकके रूपमें खास तौरसे उल्लेखित हुआ है। अन्यथा, श्रीपाल आचार्यने पूर्वाचार्योंकी सम्पूर्ण टीकाओंका एकत्र संग्रह करके उस संग्रहका नाम 'जयधवला' रक्खा, इस कथनकी कहींसे भी उपलब्धि और पुष्टि नहीं होती।

जिनसेनके समकालीन विद्वानोंमें **पद्मसेन, देवसेन, और रविचन्द्र** नामके भी कई विद्वान् हो गये हैं। यह बात ऊपर उद्धृत किये हुए प्रशस्तिके अन्तिम पद्यसे ध्वनित होती है।

गुर्जरनरेन्द्र महाराज **अमोघवर्ष** (प्रथम) जिनसेन स्वामीके शिष्योंमें थे, इस बातको स्वयं जिनसेनने अपने पार्श्वाभ्युदयके संधि-वाक्योंमें प्रकट किया है; और गुणभद्राचार्यने उत्तरपुराण-प्रशस्तिके एक पद्यमें यह सूचित किया है कि महाराज अमोघवर्ष श्रीजिनसेनस्वामीके चरणकमलोंमें मस्तकको रखकर अपनेको पवित्र मानते थे ❀। इससे अमोघवर्ष जिनसेनके बड़े भक्त थे, यह पाया जाता है। परन्तु जिनसेनस्वामी महाराज अमोघवर्षको किस गौरवभरी दृष्टिसे देखते थे, उनपर कितना प्रेम रखते थे और उनके गुणोंपर कितने अधिक मोहित अथवा मुग्ध थे, इस बातका पता अभी तक बहुत ही कम विद्वानोंको मालूम होगा, और इसलिये इसका परिचय पाठकोंको प्रशस्तिके निम्न लिखित पद्योंं परसे कराया जाता है, जिसमें गुर्जरनरेन्द्र (महाराज अमोघवर्ष) का यशोगान करके उन्हें आशिर्वाद दिया गया है—

गुर्जरनरेन्द्रकीर्तेरन्तःपतिता शशांकशुभ्रायाः ।
गुप्तैव गुप्तनृपतेः शकस्य मशकायते कीर्तिः ॥१२॥
गुर्जरयशःपयोब्धौ निमज्जतीन्दौ विलक्षणं लक्ष्म ।
कृतमलिमलिनं मन्ये धात्रा हरिणापदेशेन ॥१३॥
भरत-सगरादि-नरपति-यशांसि ताराभिमेव संहृत्य ।
गुर्जरयशसो महतःकृतावकाशो जगत्सृजा नूनम् ॥१४॥
इत्यादिसकलनृपतीनतिशय्य पयः पयोधिफेनेरथा
गुर्जरनरेन्द्रकीर्तिः स्थेयादाचन्द्रतारमिह भुवने ॥ १५

इन पद्योंमें यह बतलाया और कहा है कि 'गुर्जरनरेन्द्र (महाराज अमोघवर्ष) की शशांक-शुभ्रकीर्तिके भीतर पड़ी हुई गुप्तनृपति (चन्द्रगुप्त) की कीर्ति गुप्त ही होगई है—छिप गई है—और शक राजाकी कीर्ति मच्छरकी गुन-गुनाहटकी उपमाको लिए हुए है। मैं ऐसा मानता हूँ कि गुर्जर-नरेन्द्रके यशरूपी क्षीरसमुद्रमें डूबे हुए चन्द्रमामें विधाताने हरिण (मृगछाला) के

❀ **वह पद्य इस प्रकार है—**

यस्य प्रांशुनखांशुजालविसरद्धारान्तराविर्भवत्,
पादाम्भोजरजःपिशंगमुकुटप्रत्यग्ररत्नद्युतिः ।
संस्मर्ता स्वममोघवर्षनृपतिः पूतोऽहमद्येत्यलं,
स श्रीमान् जिनसेनपूज्यभगवत्पादो जगन्मंगलम् ॥

बहानेसे मानो एक बेढंगा अलि मलिन चिन्ह बना दिया है और भरत, सगर आदि चक्रवर्ती राजाओंके यशोंका ताराओंके प्रकाशके सदृश संहार करके जगत्स्रष्टाने गुर्जर-नरेन्द्रके महान् यशको फैलने और प्रकाशित होनेका अवसर दिया है। इनको आदि लेकर और भी सम्पूर्ण राजाओंसे बढ़कर क्षीरसमुद्रके फेन (झाग) की तरह गुर्जर-नरेन्द्रकी शुभ्रकीर्ति, इस लोकमें, चन्द्र-ताराओंकी स्थिति-पर्यन्त स्थिर रहे ※।

यद्यपि इस वर्णनमें कवित्व भी शामिल है, तो भी इससे इतना ज़रूर पाया जाता है कि महाराज अमोघवर्ष, जिनका दूसरा नाम नृपतुङ्ग था, एक बहुत बड़े प्रतापी, यशस्वी, उदार, गुणी, गुणज्ञ, धर्मात्मा, परोपकारी और जैनधर्मके एक प्रधान आश्रयदाता सम्राट होगये हैं †। आपके द्वारा तत्कालीन जैन समाज और स्वयं जिनसेनाचार्य बहुत कुछ उपकृत हुए हैं और आपके उदार गुणों तथा यशकी धाकने आचार्यमहोदयके हृदयमें अच्छा घर बना लिया था। इसीसे प्रशस्तिमें गुरु वीरसेनसे भी पहले, आपके गुणोंका कीर्तन किया गया है। जान पड़ता है, आपके विशेष सहयोग और आपके राज्यकी महती सुविधाओंके कारण ही 'जयधवला' का निर्माण हो सका है, और इसीसे प्रशस्तिके ८ वें पद्यमें, जो ऊपर उद्धृत किया जा चुका है, इस टीकाका **'अमोघवर्ष राजेन्द्र-प्राज्यराज्य-गुणोदया'**, यह भी एक विशेषण दिया गया है।

इस प्रकार यह धवल-जयधवलके रचयिता श्रीवीरसेन जिनसेन आचार्योंका, उनकी कृतियों तथा समकालीन राजादिकों-सहित, धवल जयधवलके आधार पर संक्षिप्त परिचय है।

वीरसेवामन्दिर, सरसावा, ता० ७-१-१९४०

※ इस आशीर्वादके बाद निम्न पद्य द्वारा जैनशासनका जयघोष किया गया है। और उसे अजय्य-माहात्म्य, विशासित कुशासन और मुक्तिलक्ष्म्यैकशासन जैसे विशेषणोंके साथ स्मरण किया है। इस पद्यके बाद ही प्रशस्तिमें वीरसेन और जिनसेनादि-सम्बन्धी वे सब पद्य दिये हैं जिनका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है:—

जयत्यजय्यमहात्म्यं विशासित कुशासनम्।
शासनं जैनमुद्भासि मुक्तिलक्ष्म्यैक शासनम्॥ १६

† गणितसारसंग्रहके कर्ता महावीर आचार्यने भी आपकी प्रशंसामें कुछ पद्य लिखे हैं और कितने ही शिलालेखों आदिमें आपके गुणोंका परिचय पाया जाता है।

सुधार–संसूचन

(१) 'अनेकान्त' की गत दूसरी किरणके पृ० १८६ की तीसरी पंक्तिके प्रारम्भमें जो "लिखकर उसे" शब्द छपे हैं उनके स्थान पर पाठक जन "अपने प्रास्ताविक शब्दोंके साथ" ये शब्द बना लेवें। और पृष्ठ १८७ की प्रथम पंक्तिके शुरूमें तथा पृ० १९१ के दूसरे कालमकी १७वीं पंक्तिके अन्तमें इनवेर्टेडकामाज़ ("...") लगा देवें, जिससे गोत्र विचार सम्बन्धी उद्धृत मूल लेखको दूसरे विद्वान्‌का समझनेमें कोई भ्रम न रहे।

(२) 'अनेकान्त' की गत दूसरी किरणके पृ० १९८ पर जो फुटनोट छपा है उसके सम्बन्धमें जयपुरसे श्री मांगीलालजी कानूंगो यह सूचित करते हैं कि—"जैनमतानुसार बृहस्पति "जैनमत प्रचारक" न हुए हों लेकिन हिन्दुधर्मकी पद्मपुराणके सृष्टि खण्ड अध्याय १३ मुद्रित नवलकिशोर प्रेस लखनऊमें बृहस्पतिको जैनमत प्रचारक माना है।—लेखकका लेख हिन्दू मतकी पुस्तकोंके आधार पर है इसलिये 'समझकी ग़लती या भूलका परिणाम नहीं है।" अतः उक्त फुटनोटमें "समझकी" के स्थान पर "हिन्दु पुराणकारकी" बना लेवें।—सम्पादक

उस दिन

लेखकः—श्री 'भगवत्' जैन

'आज 'धन' ही सब-कुछ है ! भाई, भाई का क़त्ल कर देता है ! खूँ-रेज़ीमें बुराई नहीं दिखाई देती ! इन्साफ़को बालाए-ताक़ रखकर मासूमोंके हक़को हलाक कर दिया जाता है ! ज़िबह कर दिया जाता है ग़रीबोंकी दुनिया को ! किस लिए……? पैसेके लिए ! धनके लिए !! मगर…उस दिन यह बात नहीं थी, क़तई नहीं !!'

स्वच्छ-आकाश ! शरीर को सुखद धूप ! नगर से दूर रम्य-प्राकृतिक, पथिकोंके पद-चिन्ह से बनने वाला—ग़ैर-क़ानूनी मार्ग; पगडण्डी ! इधर-उधर धान्य- उत्पादक,हरे-भरे तथा अंकुरित-खेत ! जहां तहां अनवरत परिश्रम के आदी; विश्व के अन्न-दाता—कृषक ! ……कार्यमें संलग्न और सरस तथा मुक्त-छन्द की तानें आलापने में व्यस्त ! स-घन वृक्षों की छाया में विश्राम लेने वाले–सुन्दर, मधु-भाषी पशु-पक्षियों के जोड़े ! श्रवन-प्रिय, मधु-स्वर से निनादित वायु-मण्डल ! …और समीरकी प्राकृतिक आनन्द-दायक झंकृति !!!…

महा-मानव धन्यकुमार चला जा रहा था, उसी पगडण्डी पर ! प्रकृतिकी रूप-भंगिमाको निरखता, प्रसन्न और मुद्रित होता हुआ ! क्षण-प्रति-क्षण जिज्ञासाएँ बढ़ती चलतीं ! हृदय चाहता—'विश्व की समस्त ज्ञातव्यताएँ उसमें समा जाएँ ! सभी कला कौशल्य उससे प्रेम करने लगें !'…नया खून जो ठहरा ! सुख और दुलारकी गोदमें पोषण पाने वाला !

सामनेके खेतमें हल चलाया जा रहा था !… ठिठककर रुक गया, देखने लगा—कृषक-कलाका आवश्यक-प्रयोग ! हलवाहक अपनी धुनमें मस्त ! उसे पता नहीं, कोई देख रहा है, या क्या है ? जरूरत भी क्या ?

कुछ-देर खड़ा रहा ! लालायित-दृष्टिको स्वतंत्र किए हुए ! अचल, मंत्र-मुग्ध, या रेखांकित-चित्र की भांति !…

अचानक हलवाहककी दृष्टि पड़ी—नर पुंगव, धन्यकुमार पर ! कैसा प्यारा सुहावना-मुँह !…… सु दर्शन ! मनमें एक स्फूर्ति सी पैदा हुई, उमंग-सी पनपी ! इच्छा हुई—'कुछ बातें की जाएं, सत्कार किया जाए !'……अपरिचित है तो क्या, है तो प्रभावशाली ?……

विचारों का संघर्ष !

धन्यकुमारने देखा, हलवाहक प्रेम-पूर्ण-नेत्रोंसे उसकी ओर देख रहा है ! उसकी मजबूत-भुजाएँ शिथिलसी होती जा रही हैं ! परिश्रमसे विरक्त-सा, ठगा-सा वह ज्यों-का-त्यों खड़ा रह गया है !……

दो-क़दम आगे बढ़कर वह कहने लगा—मन की अभिलाषा—'क्या यह कला मुझे सिखा सकते हो ?'

…फूल-से झड़े ! उसने अनुभव किया स्वर्गीय-

सुख ! बात कर सकनेका अवसर उसे स्वतः ही मिला ! अविलम्ब, यथा-साध्य स्वरको मृदु बनाते हुए बोला—'हाँ, हाँ ! अवश्य···! लेकिन एक शर्त है-- ···!'

दरिद्रताने बात पूरी करनेका साहस छीन लिया ! हृदय विवश ! धन्यकुमार क्षण-भर चुप, देखता-भर रहा उसकी ओर ! शर्त सुनाना उसके लिए अब अनिवार्य था-कलाकार जो बनना था !

बोला--'क्या ?'

हलवाहकको प्रोत्साहन मिला ! बचे-खुचे धैर्यको बटोर कर कहने लगा— '···यही कि आप मेरा आतिथ्य स्वीकार करें ? मैं भी उच्च-वर्ण—श्रावक—ही हूँ !···'

और देखने लगा—संशयात्मक-दृष्टिसे धन्यकुमारके भव्य-मुखकी तरफ़ ! जैसे अपनी आन्तरिकताकी पूर्ति खोज रहा हो !···

एक छोटी-सी नीरवता !

चाहा कि आतिथ्यको अस्वीकार करदें ! लेकिन कला-शिक्षणका लोभ···?—कहना पड़ा—'स्वीकार है मित्र !'

❀ ❀ ❀

'आप विराजिए--ज़रा ! मैं पात्र बनानेके लिए पल्लव एकत्रित कर लाऊँ--तबतक !' हलवाहकने बैठने-योग्य स्थानकी ओर संकेत करते हुए, स-भक्ति निवेदन किया !

'अच्छा !' –धन्यकुमार बैठ गया ! भोजन भार मालुम हो रहा था--और विलम्ब असहनीय ! पर विवशता सामने अड़ी थी ! लेकिन दृष्टि थी हल-बैल पर !···

हलवाहक चला गया ! धन्यकुमार बैठा रहा, कुछ देर ! इच्छा पर काबू किए हुए ! किन्तु··· विचार आया—'व्यर्थ बैठनेसे क्या लाभ ? तबतक हल चलानेका अभ्यास किया जाए तो कैसा? ···खाली पड़ा है—वह !'

हृदयकी उत्कण्ठाने प्रस्तावका समर्थन किया ! वह आगे बढ़ा ! हल चलाने लगा !···

टिख ! टिख !! टिख !!!

हलवाहकका सर्वांग-अनुसरण था ! निरापराध पृथ्वीका वक्षस्थल विदीर्ण होने लगा ! हलमें लगा हुआ नुकीला-लोह करने लगा अपनी निर्दयताका सफल-प्रदर्शन !

बैल, नवीन-हलवाहकके संरक्षकत्वमें चार-छह क़दम ही आगे बढ़े थे, कि······!

ठक्···!

रुक गया हल !···क्या हुआ ?···धन्यकुमार देखने लगा—हलके रुकनेका आकस्मिक-सबब !

देखा—'पृथ्वीके गर्भमें एक कढाह—दानवकी तरह—हल के मार्गमें बाधक बना अड़ा हुआ है !

खोद कर निकाल बाहर करनेके विचारसे वह मिट्टी हटाने लगा—नवनीत जैसे कोमल हाथोंसे ! ···पर······?—

आश्चर्य-सीमा लाँघने लगा ! कढ़ाहमें अपार धन-राशि भरी हुई थी !···सोचने लगा भोला-सा धन्यकुमार—'···अनधिकार चेष्टा थी मेरी ! बिना उसकी आज्ञाके हल छूना ही नहीं चाहिए था—मुझे ! छिपाकर रखा हुआ—धन मैंने व्यक्त कर दिया ! अवश्य, असन्तुष्ट होगा—वह !'···

पश्चातापसे झुलसे हुए मनने तिलमिला दिया उसे ! जल्दी-जल्दी मिट्टी डालकर छिपाने लगा ! और जैसेका तैसा कर आ-बैठा अपने स्थान पर !

जैसे कुछ हुआ ही नहीं !
अपने स्थानसे हटा ही नहीं !!

* * *

दोनों बैठे ! दरिद्रता द्वारा सुलभ रूखे-सूखे किन्तु प्रेम-पूर्ण भोजनके लिये ! दोनों खा रहे थे—मौन ! विचार-धाराएँ शतलजकी भाँति वेग-वती हो बह रहीं थीं । विपरीत, एक-दूसरीसे !

हलवाहक सोच रहा था—आजका दिन धन्य है ! एक महा-पुरुषके साथ भोजन करनेका सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ है !'

और उधर—'मैं अपराधी हूँ ! उसके धनको मैंने देख लिया, भूल की न ?··· अभी उसे पता नहीं है ! पता होने पर······! बस, खा-पीकर चल देना ही ठीक है—अब ! फिर देखा जाएगा—कलाका शिक्षण···!'

हलवाहक चाहता—'जिन्दगी-भर इसी तरह खाते रहें ! वियोग न आए.' और धन्यकुमार सोचता—'कब खाना ख़त्म हो, कब छुट्टी मिले !'

भोजन हो चुकने पर प्रसन्नता-भरे स्वरमें हलवाहक बोला—'आपने मेरी प्रार्थनाका आदर किया ! अब मैं भी कला सिखानेके लिए उद्यत हूँ ! ···आइए!'

धन्यकुमार पर घोर-संकट ! क्या करे अब ? घबराकर बोला—'बात यह है, मुझे अब जल्दी है। पहुँचना भी तो है ! फिर कभी सीख लूंगा !'

और चलने लगा अपने पथ पर ! हलवाहक रहस्यसे अनभिज्ञ ! निर्निमेष देखता हुआ, बोला—'ऐसा क्यों ?'

धन्यकुमार दश-बारह क़दम आगे जा चुका था ! वहींसे घूमकर बोला—'जा रहा हूँ—अब !' —और हाथ जोड़ लिए !

हलवाहकका जैसे आशा-स्वप्न भागा जा रहा हो ! हाथ-जोड़े, जब तक धन्यकुमार दृष्टिसे ओझल न होगया, खड़ा रहा।

फिर········ ?

निराशा, अन्यमनस्क लिए आगया अपने काम पर !

टिख ! टिख !!·········

बैल बढ़े कि—'ठक् !' अटक गया—कुछ ! मज़बूत-हाथोंने मिट्टी हटाकर देखा—धनसे भरा हुआ—कढ़ाह !

दरिद्र-श्रमीकी आँखें चौंधियाने लगीं—इतना धन ?···

सोचने लगा—'यह उसी महा-भाग्यके चमत्कारका द्रव्य है ! मेरा क्या है— इसमें ?··· अगर मेरा होता तो······पूर्वज जोतते आए, मैंने जबसे होश-सम्हाला जोता—कभी एक पैसा नहीं निकला ! आज इतना-धन !···न, मेरा इस पर कोई अधिकार नहीं, उसी का है ! उसे ही दे देना मेरा कर्तव्य !,

···और वह भागा, बे-तहासा,उसे लौटानेके लिए !

* * *

मन, आशंकामें उलझा हुआ था, न ? भय भी था अपराधका ! यदि पंख होते तो वह कहाँ-का-कहाँ पहुँचा होता ! तो भी उसने गतिमें सामर्थ्यानुसार वृद्धि की थी ! मुड़-मुड़ कर देखता जाता—'कहीं आ तो नहीं रहा !'

बहुत दूर निकल गया !--भया-कुल-चित्त धन्यकुमार ! विश्वास जम गया कि 'अब आएगा नहीं !'

लेकिन 'विश्वास' का धरातल बालुकी दीवार की तरह अस्थायी निकला। कानोंने सुना, आँखों ने देखा--वह पुकारता हुआ, भागता हुआ आ रहा है ! सच, चला आरहा है इसी ओर !

धन्यकुमारका होश ! सारा शरीर बेंतकी भाँति काँप उठा ! रुक गया जहाँ-का-तहाँ !

वह आया !

धन्यकुमारने समझा जैसे उसका अन्त-समय है, काल सामने खड़ा है !

पर इसके मुँह पर रौद्रता क्यों नहीं ? वही दीन-भाव, वही श्रद्धा-दृष्टि !!

'आप लौट चलिए ! आपका धन वहाँ रह गया है, उसे ले आइए !'

'मेरा धन...?'

'हाँ ! आपका ही...!'

'मेरे पास तो शरीर पर इन वस्त्रोंके अतिरिक्त और कुछ भी न था !'

'ठीक है ! लेकिन वह कढ़ाह—जो खेतकी मिट्टीके नीचे दबा निकला है--आपके भाग्य-चमत्कारका ही प्रसाद है !'

'वह मेरा नहीं है--भाई ! तुम्हारे खेतमें जो कुछ है, सब तुम्हारा है !'

'यह नहीं मान सकता--मैं ! अगर मेरा होता, तो आज ही न निकलकर पूर्वजोंके सामने नि. लता, या मैं इतने दिनोंसे इसे जोत रहा हूँ ! ...पहिले भी निकल सकता ! मगर...आप विश्वास कीजिए...कभी एक कौड़ी नहीं निकली ! धन आपका है, आप उसके मालिक ! मेरे लिए मिट्टी ! चलिये !'

'मैंने कहा न, धन मेरा नहीं है ! मैं उसके विषयमें कुछ नहीं जानता !'

'न जानिए ! पर उसे हटा लीजिए ! मेरे ऊपर से व्यर्थका भार उठे !'

'लेकिन वह मेरा हो तब न ?'

'धन आपका, और फिर आपका ! आप कैसी बातें कर रहे हैं !'

'भाई ! धन तुम्हारा है, मेरा नहीं !'

मेरा ? जिसने दरिद्रताकी गोदमें बैठकर जिन्दगी बिताई ! इतनी उम्र हुई—इतना धन स्वप्नमें भी नहीं देखा ! दरिद्रताका उपहास कर रहे हैं--आप !

बात, धन्यकुमारके मनमें शूल-सी चभी ! बोला--'अच्छा, मेरा ही सही ! लेकिन मैं अब उसे तुम्हें देता हूँ ! प्रेम मानते हो, तो स्वीकार करो--उसे !'

हलवाहकके अधरोंमें स्पन्दन हुआ, कुछ शब्द --कण्ठसे बाहिर आनेके लिए उद्यत हुए ! पर वह बोल न सका !

चप रह गया !!!

जैनधर्मकी विशेषता

[लेखक—श्री० बा० सूरजभान वकील]

जैनधर्म और अन्य धर्मोंमें आकाश पातालका सा अंतर है। जैनधर्म वैज्ञानिक धर्म है। उसका आधार वस्तु-स्वभाव है। जीव और अजीव संसारमें दो ही प्रकार के पदार्थ हैं। जीव सुख दुखका अनुभव करता है, सुख चाहता है और दुख दूर करनेका उपाय करता है। दुख इसका निज स्वभाव नहीं है, तब ही यह दुखके कारणोंको दूर कर परमानन्द प्राप्त कर सकता है। दुख इसका विभाव भाव है जो अजीवके संयोगसे ही इसको प्राप्त हो रहा है। वह संयोग किस प्रकार पैदा होता है, किस प्रकार इस संयोगका पैदा होना रोका जासकता है और जो संयोग हो चुका है वह कैसे दूर किया जा सकता है दूर होने अथवा निर्बंध हो जाने पर जीवकी क्या दशा हो जाती है, क्या परमानन्द प्राप्त होने लग जाता है, इन्हीं सबकार्यकारी बातों को जैनशास्त्रोंमें वैज्ञानिक रीतिसे सात तत्वोंके नामसे बताकर जीवको उसके कल्याणका रास्ता सुझाया है। और जोर देकर समझाया है कि वही शास्त्र, वही कथन, वही उपदेश, और वही आज्ञा मानने योग्य है जो वस्तु स्वभावके अनुकूल हो, तर्क और हेतु द्वारा खंडित न होता हो, कल्याणका मार्ग बताने वाला हो, सब ही जीवोंका हित करने वाला हो और पक्षपातसे रहित हो। जगतमें किसी एक परमेश्वर या अनेक देवी देवताओं-का राज्य नहीं है, जिनकी आज्ञा आँख मींचकर शिरोधार्य की जावे, उनको राज़ी रखने और उनके कोपसे बचनेके वास्ते उलटा सीधा जैसा वह नाच नचावें निर्जीव कठ पुतलियोंक तरह वही नाच नाचना स्वीकार किया जावे, ज्ञानधारी जीवके स्थानमें अचेतन जड बनकर ही रहा जावे। संसारमें तो जो कुछ हो रहा है वह संसारकी वस्तुओंके अपने२ स्वभावानुसार ही हो रहा है वस्तु अनन्त हैं जिन सबका एक ही संसारमें स्थित होने, गतिशील होने, और स्वभावानुसार क्रिया करते रहनेसे उनको आपसमें अनेक प्रकारका संयोग, वियोग, और संघर्ष होता रहता है, जिनसे उनके स्वभावानुसार नाना प्रकारके परिवर्तन, पर्यायों और परिस्थितियोंका अलटन-पलटन होता रहता है। वस्तु स्वभावकी खोज करने वाले वैज्ञानिक लोग वस्तुओंके इन्हीं अटल परिवर्तनोंके कुछ एक नियमोंकी जानकारी करके ही उनके नियमानुसार उनसे काम लेने लगते हैं, जिनके इन थोड़ेसे आविष्कारोंसे ही लोग अचम्भेमें पड़ जाते हैं और इनके इन आविष्कारोंको भी किसी अलौकिक शक्ति अर्थात् यंत्रों मंत्रोंका ही कृत्य मान लेते है।

मनुष्य जब जगतमें जाते हैं तो वहां तरह २ के वृक्ष, पौदे, और बेलें फैली हुई देखकर उनके तरह२ के सुन्दर २ पत्ते, फूल और फल अवलोकन कर बहुत ही हैरान होते कि यहाँ यह अद्भुत वस्तु किसने बना दी। इनमें जो बुद्धिमान होते हैं वे तो खोज करने पर यह मालूम कर लेते हैं कि अपनी २ क़िस्मके बीजोंके बीजोंसे ही यह सब पेड़ उगे हैं। इमलीके पेड़ पर जो बीज लगें उन बीजोंसे जो भी पेड़ उगे हैं उनके पत्ते फूल और फल सब समान हैं, इसी प्रकार नीमके बीजों-

से भी जो वृक्ष उगे हैं उनके पत्ते, फूल और फल भी आपसमें समान हैं यही हाल अन्य सब वृक्षों, पौदों और बेलोंका है। इससे वह समझ लेता है कि भिन्न२ प्रकारके वृक्ष, और पौदे, और बेलें किसी अलौकिक शक्तिके द्वारा पैदा नहीं किये जाते हैं। किन्तु अपने २ बीजके स्वभावसे ही वे भिन्न प्रकारके पैदा होते हैं, जिनपर उनकी अपनी ही अपनी तरहके पत्ते फूल और फल लगते हैं। इस अपनी बातको निश्चय करनेके वास्ते जब वह जंगलों से तरह २ के बीज बटोर कर घर ले जाता हैं और अपने आँगनमें डालकर उनको पानी देता है तो वहां भी जंगलके समान प्रत्येक बीजसे उस ही प्रकारके पौदे, पत्ते फूल और फल पैदा होते हैं, जिस प्रकारका वह बीज होता है, तब वह अपनी इस बातका पूर्ण श्रद्धान कर लेता है कि इन तरह २ के वृक्षों, पौदों, बेलों और उनके सुन्दर २ पत्तों, फूलों, और फलोंको बनाने वाली कोई अलौकिक शक्ति नहीं है किन्तु यह सब अपनी२ क़िस्मके बीजोंके स्वभावसे ही बन जाते हैं जिनको उनके अनुकूल हवा, मिट्टी, पानी आदि मिलनेसे उसी बीजकी किस्मका पौदा उग आता है, दूसरी किस्मका नहीं इस कारण अब वह जब भी जिस क़िस्मका फल पैदा करना चाहता है, तभी उस किस्मका बीज बोकर इच्छित फूल फल पैदा कर लेता है और दूसरोंको भी इस प्रकार फल फूल पैदा करना सिखा देता है। इसी ही से यह सिद्धान्त स्थिर हो जाता है कि जो कोई कांटेदार बबूल का बीज बोता है उसकी ज़मीनमें काँटेदार बबूलका ही पेड़ उगता है, जो नीमका बीज बोता है उसके यहां कड़वे नीमका वृक्ष और जो मीठे आमकी गुठली बोता है उसके यहां मीठे आमका ही वृक्ष उगता है, इसमें किसी भी अलौकिक शक्तिका कोई दखल नहीं है।

परन्तु जो बुद्धिसे काम लेना नहीं चाहता वह जंगलमें तरह २ के पौदे और फल फूल देखकर एकदम यही मानने लगता है कि ऐसी कोई अलौकिक शक्ति ज़रूर है जो इस जंगलमें ऐसे २ वृक्ष, पौदे और बेलें बनाकर, उनपर ऐसे २ सुंदर पत्ते, फूल, और फल लगाती है, जिनको देखकर अक्ल दंग रह जाती है। ऐसा विचार आते ही वह उस अलौकिक शक्तिके प्रभावसे काँप उठता है और उसको प्रसन्न कर उसके द्वारा अपने कार्य सिद्ध करनेकी फ़िकरमें लग जाता है, कल्पनाके घोड़े दौड़ाता है और सिवाय इसके और कुछ भी सूझ नहीं पाता है कि जिस प्रकार अपनेसे प्रबल मनुष्यकी खुशामद कर बड़ाई गाकर और उसको उसके इच्छित पदार्थकी भेंट चढ़ा उसको खुशकर उससे अपना कार्य सिद्ध कर लिया जाता है, इस ही प्रकार इन अलौकिक शक्तियोंको भी प्रसन्न करलिया जाता है।

यही संसारके अनेक धर्मोंकी बुनियाद है, जो जैनधर्मसे बिल्कुल ही विपरीत है। जैनधर्म ऐसी अलौकिक शक्तियोंको नहीं मानता है, इस ही कारण वह तो किसी भी अलौकिक शक्तिकी खुशामद करने और उसको भेंट चढ़ानेके स्थानमें बबूलके बीजसे बबूल और नीमके बीजसे नीम पैदा होनेके समान निश्चयरूप अपने ही किये हुए प्रत्येक बुरे, भले कर्मका फल भोगना बताकर अपने ही कर्मोंकी सम्हाल रखने, अपनी ही नियतों, (भावों और परिणामों) को शुभ और उत्तम बनाये रखनेकी शिक्षा देता है जिस प्रकार आगमें उँगली देनेसे हाथ जलेगा ही, कड़वी वस्तु खानेसे मुँह कड़वा होगा ही, आँखमें लाल मिर्च पड़ जानेसे जलन पैदा होगी ही, इस ही प्रकार हमारे प्रत्येक कृत्यका फल हमको भोगना पड़ेगा ही, इसमें कोई फल देनेवाला नहीं आयगा, किन्तु जिस कृत्यका जो फल है वह वस्तु स्वभावके अनुसार आपसे आप अवश्य

निकलेगा ही।

जो लोग बुद्धिसे काम न लेकर एकदम अलौकिक शक्तियोंकी कल्पना कर लेते हैं वे यदि मनुष्य-भक्षी होते हैं तो वे इन अलौकिक शक्तियों अर्थात् अपने कल्पित देवी देवताओंको भी मनुष्यकी ही बलि देकर प्रसन्न करनेकी कोशिश करते हैं। अबसे कुछ समय पहले अमरीका महाद्वीपमें ऐसे भी प्रान्त थे जहाँके निवासी अपने प्रान्तके बड़े देवताको हज़ारों मनुष्योंकी बलि देकर खुश करना चाहते थे, परन्तु बलिके वास्ते एकदम हज़ारों मनुष्योंका मिलना मुश्किल था, इस कारण अनेक प्रान्तवालोंने मिलकर यह सलाह निकाली, कि बलि देनेके समयसे कुछ पहले हम लोग आपसमें युद्ध किया करें, इस युद्धमें एक प्रान्तके जो भी मनुष्य दूसरे प्रान्त वालोंकी पकड़में आजावें वे सब बलि चढ़ादिये जावें। बस यह युद्ध इस ही कार्यके वास्ते होता था, हार जीत या अन्य कुछ लेने देनेके वास्ते नहीं। इस प्रकारकी बलि देना जब कुछ समय तक जारी रहता है तो मनुष्योंमें मनुष्यका मांस भक्षण करना छूट जानेपर भी देवताको बलि देना बहुत दिन तक बराबर जारी रहता है, मनुष्य अपनी लौकिक प्रवृत्तियोंमें तो समयानुकूल जल्द ही बहुत कुछ हेर फेर करते रहते हैं परन्तु देवी देवताओंकी पूजा भक्ति और अन्य भी धार्मिक कार्योंमें परिवर्तन करनेसे डरते रहते हैं। इन कार्योंको तो बहुत दिनों तक ज्योंका त्यों ही करते रहते हैं, यही कारण है कि भारतवर्षमें भी मनुष्यका मांस खानेवाले न रहने पर भी बहुत दिनों तक जहाज़ आदि चलाते समय मनुष्यकी बलि देना बराबर जारी रहा। सुनते हैं कि कहीं किसी देशमें कोई समय ऐसा भी रहा है जब आपने ही पुत्र आदिककी बलि देकर भी देवताको प्रसन्न करनेकी चेष्टा की जाती थी। जब विचार बुद्धिसे कुछ काम ही न लेना हो, तब तो जो कुछ भी किया जाय उसमें आश्चर्य ही क्या हो सकता है। जो न हो वह ही थोड़ा है। /

मनुष्यकी बलिके बाद गाय, घोड़ा, बकरा, आदि पशुओंकी बलिका ज़माना आया जो अबतक जारी है। हाँ इतने जोरोंके साथ नहीं है जितना पहले था। मुसलमानी धर्म तो विदेशी धर्म है, उसको छोड़कर जब हम अपने हिन्दू भाइयोंके ही धर्मपर विचार करते हैं तो वेदोंमें तो यज्ञके सिवाय और कोई विधान ही नहीं मिलता है जिसमें आग जलाकर पशु पक्षियोंका होम करना होता है। अस्तु, वेदोंको तो लोग बहुत कठिन बताते हैं इसी कारण बहुत ही कम पढ़े जाते हैं परन्तु मनुस्मृति तो घर घर पढ़ी जाती है और मानी भी जाती है, उसमें तो यहांतक लिखा हुआ है कि पशु पक्षी सब यज्ञके वास्ते ही पैदा किये जाते हैं। यज्ञके वास्ते विद्वान ब्राह्मणोंको स्वयम् अपने हाथसे पशु पक्षियोंका बध करना चाहिये, यह उनका मुख्य कर्म है। इस हीमें ईश्वरकी प्रसन्नता और सबका कल्याण है।

जैनधर्म इसके विपरीत इस प्रकारके सब ही अनुष्ठानोंको महा अधर्म और पाप ठहराता है। किसी जीव की हिंसा करने या दुख देनेमें कैसे कोई धर्म या पुण्य हो सकता है, इस बातको विचार बुद्धि किसी प्रकार भी स्वीकार करनेको तैयार नहीं हो सकती है। न ऐसा कोई जगतकर्त्ता ईश्वर या देवी देवता ही हो सकता है जो जीवोंकी हिंसासे प्रसन्न होता हो। इसके सिवाय जैनधर्म तो पुकार २ कर यही शिक्षा देता है कि तुम्हारी भलाई बुराई जो कुछ भी हो रही है या होने वाली है, वह सब तुम्हारे अपने ही कर्मोंका फल है। तुम्हारे कर्मों का वह फल किसीके भी टाले नहीं टल सकता, न कोई सुख दे सकता है और न दुख ही। इस कारण अपने

को अशरण समझकर और किसी भी अलौकिक शक्ति का भय न कर एक मात्र अपने ही कर्मोंके ठीक रखने की कोशिशमें लगे रहो, यही एकमात्र तुम्हारा कर्तव्य है। रागद्वेष ही एक मात्र जीवके शत्रु हैं, ये ही उसके विभाव भाव हैं जिनसे इसको दुख होता है और संसार में भ्रमण करना पड़ रहा है। जितना २ भी कोई जीव रागद्वेषको कम करता है उतना २ ही उसको सुख मिलता है और बिल्कुल ही राग द्वेष दूर होने पर उसका सारा विभाव भाव दूर होकर उसका असली स्वभाव प्रकट होजाता है और परमानन्द प्राप्त होजाता है। इस ही कारण प्रत्येक जैनीको अपने अन्दर वैराग्य भाव लानेके वास्ते परमवीतराग परमात्माओंकी, और जो इस परम वीतरागताकी साधनामें लगे हुए हैं ऐसे साधुओंकी उपासना करते रहना ज़रूरी है, यही जैनियोंकी पूजा भक्ति है जो उनके वीतरागरूप गुणोंको याद कर कर अपने भावोंमें भी वीतरागता लानेके वास्ते की जाती है। इस प्रकार जैनियोंकी और अन्य धर्मियोंकी पूजा भक्तिमें भी धरती आकाशका अंतर है। अन्यमती रागी द्वेषी देवताओंकी पूजा करते हैं और जैनी वीतरागियोंकी। अन्यमती अपने लौकिक कार्योंकी सिद्धिके वास्ते और अपने राग द्वेषको पूरा करानेके वास्ते उनको पूजते हैं और जैनी लौकिक कार्योंका राग-द्वेष छोड़ उनके समान अपने अंदर भी वीतरागता लानेके वास्ते ही उनका गुणानुवाद गाता है, यही उनकी पूजा है। वह अपने इष्ट देवोंको प्रसन्न करना नहीं चाहता है, न वे किसीके किये प्रसन्नया अप्रसन्न हो ही सकते है, क्योंकि वे तो परम वीतरागी हैं। इस कारण जैनी तो उनके वीतरागरूप गुणोंको याद कर अपनेमें भी वीतरागताका उत्साह पैदा करनेकी कोशिश करता है, यही उसकी पूजा बंदना है जो अन्यमतियों-की पूजा बंदनासे बिल्कुल ही विलक्षण है।

लोकमें भिन्न २ परिस्थितियोंके कारण समय २ पर तरह २ की विलक्षण रीतियाँ जारी होती हैं, जैसे कि आजकल हिन्दुस्थानमें स्वदेशी वस्तुओंके ग्रहण और विदेशी वस्तुओंके त्याग और विशेष कर हाथके कते सूतसे हाथसे बने हुए ही वस्त्र पहननेका भारी आन्दोलन हो रहा है। होते २ ऐसी ऐसी रीतियाँ ही बहुत समय तक जारी रहने पर विचार शून्य लोगोंके वास्ते धर्मका अंग बनजाती हैं और उनकी ज़रूरत न रहने पर भी, यहाँ तक की हानिकर हो जाने पर भी वह नहीं छोड़ी जाती हैं। धर्म समझकर तब भी उनकी पालना ही होती रहती है अन्य सब ही धर्म जो बिना विचार आँख मींचकर ही माने जाते हैं उनमें ऐसी २ अनेकों रूढ़ियाँ धर्मका रूप धारण कर लेती हैं, यहाँतककी इन रूढ़ियोंका संग्रह ही एक मात्र धर्म हो जाता है। जो बिल्कुल ही बेज़रूरत यहाँ तक कि हानिकर होजाने पर भी सेवन की जाती हैं और धर्म समझी जाती हैं। जैनधर्म ऐसी रूढ़ियोंके माननेको लोक मूढ़ता बताकर सबसे प्रथम ही उनके त्यागका उपदेश देता है। यहाँ तक कि जैनधर्मका सच्चा श्रद्धान होना ही उस समय ठहराया है जब कि मूढ़ता या अविचारिता छोड़कर प्रत्येक बातको बुद्धिसे विचार कर ही ग्रहण किया जावे और सब ही अलौकिक रूढ़ियोंको जिन्होंने धर्मका स्वरूप ग्रहण कर लिया हो, परन्तु धर्मका तथ्य उनमें कुछ भी न हो बिल्कुल भी ग्रहण न किया जावे। मूढ़दृष्टि होना अर्थात् बिना विचारे किसी रूढ़िको धर्म मान लेनेको तो जैनधर्ममें महादोष बताया है जिससे श्रद्धान तकका भ्रष्ट होना ठहराया है।

किसी समय राष्ट्रमें महायुद्ध छिड़जाने पर लोगोंको युद्धके लिये उत्साहित करनेके लिये यह आन्दोलन

उठाया गया कि युद्धमें मरने वालोंको स्वर्ग प्राप्त होता है, होते २ यही रूढ़ि प्रचलित होकर धर्म सिद्धान्त बन-गई है और मनुस्मृति जैसे हिन्दूधर्म ग्रन्थमें यहाँतक लिख दिया गया है कि युद्धमें मरनेवालोंके लिये मरण संस्कारोंकी भी ज़रूरत नहीं, उनकी तो वैसे ही शुभगति हो जाती है। परन्तु जैनधर्म ऐसी उल्टी बातको हरगिज़ नहीं मान सकता है, युद्ध महा-कषायसे ही होनेके कारण और दूसरोंको मारते हुए ही मरनेके कारण युद्ध करते हुए मरनेवाला तो अपने इस कृत्यसे किसी प्रकार भी ऐसा पुण्य प्राप्त नहीं कर सकता है जिससे उसको अवश्य ही स्वर्गकी प्राप्ति हो, किन्तु महा हिंसाके भाव होनेके कारण उसको तो पापका ही बंध होगा और दुर्गतिको ही प्राप्त होगा। हाँ, यह ठीक है कि संसारमें वह वीर समझा जायगा और यशको ज़रूर प्राप्त होगा।

इस ही प्रकार किसी समय एक एक पुरुषकी अनेक स्त्रियाँ होनेके कारण इस भारत भूमिमें स्त्रियाँ अपने चारित्रमें अत्यन्त शंकित मानी जाने लगी थीं। 'स्त्रियश्चरित्रं पुरुषस्यभाग्यं देवो न जानाति कुतो मनुष्यः' स्त्री-चरित्रकी बुराईमें ऐसे २ कथनोंसे सब ही शास्त्र भरे पड़े है। उस ही समय स्त्रियाँ पैरकी जूतीसे भी हीन मानीं जाने लगीं थीं। तब पुरुषके मरने पर उसकी स्त्री खुली दुराचारिणी होकर अपने पतिके नामको बट्टा लगावे इस डरसे पुरुषोंने अपनी ज़बरदस्तीसे स्त्रियोंको अपने मृतक पतिके साथ जल मरनेका महा भयानक रिवाज जारी किया था और यह आन्दोलन उठाया गया था कि जो स्त्री अपने पतिके साथ जल मरेगी वह अवश्य स्वर्ग जावेगी और इस पुण्यसे अपने पतिको भी चाहे वह नरक ही जानेवाला हो अपने साथ स्वर्ग ले जायगी। फल इस आन्दोलनका यह हुआ कि धड़ाधड़ स्त्रियां जीती जल मरने लगीं और यह एक ज़रूरी धर्म सिद्धान्त होगया, पतिके साथ जल मरनेवाली ऐसी स्त्रियोंकी क़बर (समाधि) भी पूजी जाने लगी परन्तु जैनधर्म किसी तरह भी इस कृत्यको धर्म नहीं मान सकता है, किन्तु बिल्कुल ही अमानुषिक और राक्षसी कृत्य ठहराकर महा पाप ही बताता है। चाहे सारा भारत इस कृत्यकी बड़ाई गाता हो परन्तु जैनधर्म तो इसकी बड़ी भारी निंदा ही करता है।

इस ही प्रकार किसी समय विशेषरूपसे युद्ध आदिमें लगजानेके कारण लोगोंको पूजन भजन आदिका समय न मिलनेसे उस समयके लिये पूजन भजन आदिका यह कार्य कुछ ऐसे ही लोगोंको सौंप दिया गया था जो शास्त्रोंके ही पठन पाठनमें और पूजापाठमें ही अधिक लगे रहते थे और ब्राह्मण कहलाते थे या कहलाने लगे थे। होते होते लोग इस विषयमें शिथिलाचारी होगये और आगेको भी पूजा पाठ आदिका कार्य उन ही लोगोंके जिम्मे होगया। पूजन-पाठ, जप-तप और ध्यान आदि धार्मिक सब ही अनुष्ठान लोगोंकी तरफ़से इन ही ब्राह्मणोंके द्वारा होकर पुण्यफल इनका उन लोगोंको मिलना माना जाने लगा जिनसे अपनी फीस लेकर ये ब्राह्मण लोग यह अनुष्ठान करें। यही रूढ़ी अबतक जारी है और धर्मका सिद्धान्त बनगई है, परन्तु जैनधर्म किसी तरह भी ऐसा सिद्धान्त माननेको तय्यार नहीं हो सकता है। वह तो पाप पुण्य सब अपने ही भावों और परिणामों द्वारा मानता है। मैं खाऊँगा तो मेरा पेट भरेगा दूसरा खायगा तो दूसरेका, यह हर्गिज़ नहीं हो सकता है कि खाय कोई ओर पेट भरे दूसरेका, पूजा पाठ करे कोई और उसका पुण्य मिले दूसरेको। ऐसी मिथ्या बातें जैनधर्म किसी तरह भी नहीं मान सकता है।

हिन्दुओंमें ब्राह्मणों द्वारा सब ही धार्मिक अनुष्ठान

करायें जानेकी रूढ़ी ज़ोरोंके साथ प्रचलित होजानेपर यह भी रूढ़ी होगई कि ईश्वर या किसी भी देवी देवता-को यहाँ तक कि नवग्रह आदिको भी जो कुछ भेंट करना हो तो वह ब्राह्मणको दे देनेसे ही ईश्वरको या देवी देवताको पहुँच जाती है, फिर इस बातने यहाँतक ज़ोर पकड़ा कि मरे हुए मनुष्यको अर्थात् पित्रोंको भी जो कुछ खाना कपड़ा, खाट पीढ़ा, दूध पीनेको गाय, सवारीको घोड़ा आदि पहुँचाना हो वह ब्राह्मणोंको देनेसे ही पित्रोंके पास पहुँच जायगा, चाहे वे पितर कहीं हों, किसी लोकमें हों और चाहे जिस पर्यायमें हों। यहाँ तक कि वे सब चीज़ें ब्राह्मणके घर रहते हुऐ भी और ब्राह्मण द्वारा उनको भोगा जाता देखा हुआ भी यह ही माना जाने लगा कि वे पित्रोंको पहुँच गई हैं। जैनधर्म ऐसी अँध श्रद्धाको किसी तरह भी नहीं मान सकता है। किन्तु माननेवालोंकी बुद्धि पर आश्चर्य करता है।

ऐसे महा अँधविश्वासके ज़मानेमें बिना किसी प्रकारके गुणोंके एकमात्र ब्राह्मणके घर पैदा होनेसे ही ऐसा पूज्य ब्राह्मण माना जाना जैसे उसके पढ़े लिखे और पूजा पाठ आदि करनेवाले पिता और पितामह थे कोई भी आश्चर्यकी बात नहीं हो सकती है। फल इसका यह हुआ कि ब्राह्मणके घर पैदा होनेवालोंको किसी भी प्रकारके गुण प्राप्त करनेकी ज़रूरत न रही। बिल्कुल ही गुणहीन दुराचारी और महामूर्ख भी ब्राह्मण के घर पैदा होनेसे पूज्य माना जाने लगा और अबतक माना जाता है। उनके गुणवान पिता और पितामह की तरह इन गुणहीनोंको देनेसे भी उसही तरह ईश्वर और सब ही देवताओंको भेंट पूजा पहुँच जाना माना जाता है, किसी बातमें भी कोई फ़रक़ नहीं आने पाया है। इन गुणहीनोंका भी वही गौरव, वही पूजा प्रतिष्ठा और ईश्वर और देवी देवताओंका एजेंटपना बना हुआ है जैसे इनके गुणवान माता पिताओंका था। इस अँधेरको भी जैनधर्म किसी तरह नहीं मान सकता है, इस कारण जैन शास्त्रोंमें श्रीआचार्योंको इस बातका भारी खंडन करना पड़ा है और सिद्ध करना पड़ा है कि मनुष्य जाति सब एक है, उसमें भेद सिर्फ़ वृत्तिकी वजहसे ही हो जाता है। जो जैसी वृत्ति करने लगता है वह वैसा ही माना जाता है। जन्मसे यह भेद किसी तरह भी नहीं माने जा सकते हैं। आदिपुराण, पद्म-पुराण, उत्तरपुराण, धर्मपरीक्षा, वरांगचरित, और प्रमेयकमलमार्तंडमें ये सब बातें बड़े ज़ोरके साथ सिद्ध की गई हैं। जैसा कि अनेकान्त वर्ष २, किरण ८ में विस्तारके साथ इन ग्रन्थोंके श्लोकों सहित दिखाया गया है।

गुणहीन ब्राह्मणोंने अपनी जन्मसिद्ध प्रतिष्ठा क़ायम रखनेके वास्ते अपने अपने बाप दादा आदि महान् पुरुषाओंकी बड़ाई और जगतमें उनकी मानमर्यादाका बड़ा भारी गीत गाना शुरू करदिया, हरएकने अपने पुरुषाओंको दूसरोंसे अधिक प्रतिष्ठित और माननीयसिद्ध करनेके सिवाय अपनी प्रतिष्ठा और पूजाका अन्य कोई मार्ग ही न देखा। जिससे उनके आपसमें भी द्वेषाग्नि भड़क उठी और एक दूसरेसे घृणा होने लग गई। हमारे पुरुषा तो ऐसे पूज्य, पवित्र और धर्मनिष्ठ थे कि अमुक के पुरुषाओंके हाथका भोजन भी नहीं लेते थे, इससे आपसमें एक दूसरेके हाथका भोजन खाना और बेटी व्यवहार भी बन्द होगया और ब्राह्मणोंकी अनेक जा-तियाँ बन गईं, जिनका एक दूसरेसे कुछ भी वास्ता न रहा। अपने अपने पुरुषाओंकी बड़ाई गा-गाकर अपनी जातिको ऊँचा और दूसरोंकी जातिको नीचा सिद्ध करना ही एकमात्र इनमें गुण रह गया।

किसी प्रकारके गुण प्राप्त किये बिना जन्मसे ही

अप पुरुषाओंकी मानमर्यादाके अधिकार प्राप्त करनेकी यह बीमारी महामारीकी तरह क्षत्रियोंमें भी फैली, उनमें भी अपने अपने पुरुषाओंकी बड़ाई गानेसे भेदभाव पैदा होगया और अनेक जातियाँ होकर वैमनस्य बढ़ गया। यही बीमारी फिर वैश्योंको भी लगी और होते होते शूद्रोंमें भी पहुँच गई जिसका फल यह हुआ कि अब हिन्दुओंकी चार हज़ार जातियाँ ऐसी हैं जिनमें आपसमें रोटी बेटी व्यवहार नहीं होता है और सब ही गुण नष्ट होकर एकमात्र यह भेदभाव क़ायम रखना ही धर्म कर्म रह गया है। यही वर्णाश्रमधर्म कहलाता है जिसका हिन्दुओंको भारी मान है बिना किसी प्रकारकी शास्त्र विद्या या धर्म कर्मके जब एक मात्र ब्राह्मणके घर जन्म लेनेसे ही पूज्यपना और पुरुषाओंके सब अधिकार मिलने लग गये, यजमानोंसे ही जीवनकी सब ज़रूरतें पूरी होने लग गई, किसी प्रकारकी भी आजीवकाकी कोई ज़रूरत न रही तो ब्राह्मणोंको बिल्कुल ही बेफ़िकरी होगई और बेकार पड़े रहनेके सिवाय कुछ काम न रहा। परन्तु आपसमें स्पर्द्धाका होना तो ज़रूरी ही था। हम दूसरोंसे अधिक पूज्य माने जावें, यह खयाल आना तो लाज़मी ही था, इसके सिवाय अपने ब्राह्मणपनेको क्षत्रिय और वैश्योंसे पृथक् ज़ाहिर करते रहना भी ज़रूरी था, ठाली और बेकार तो थे ही इस कारण किसी नदी या तालाबके किनारे जाकर खूब अच्छी तरह मल मलकर अपने शरीरको धोते रहने, नित्य अच्छी तरह धो धोकर धौत वस्त्र पहनने, शरीर पर चन्दन और मस्तकपर तिलक लगानेमें ही बिताने लगे। खाली तो थे ही दिन कैसे बितावें, इस कारण भंग घोट घोटकर पीना, चरस और सुल्फ़ेका दम लगाना और बेसुध होकर पड़े रहना, यह ही उनके धर्मका अँग बन गया, यहाँ तक कि धर्म मंदिरोंमें नित्य यही काम होने लग-गया, जगह जगहके भँगड़ इस ही कार्यके लिये मंदिरोंमें जमा होने लग गये। देखो अविचारिताके कारण कहाँसे कहाँ मामला पहुँच गया और धर्मस्वरूप क्यासे क्या बनगया। ब्राह्मणोंने अपनी विलक्षणता, बड़ाई और प्रतिष्ठा क़ायम रखनेके वास्ते अपने हाड माँसके शरीरको महान् शुद्ध और पवित्र स्थापित कर, दूसरोंकी छूतसे अलग रहना शुरू करदिया, यदि किसी भूलसे कोई उनके शरीर या वस्त्रको छूदे तो महान पातक होजावे, तुरन्त ही दोबारा स्नान करें, कपड़े धोवें और आचमन कर और तुलसी पत्र आदि चबानेके द्वारा अपनेको पवित्र बनावें, किसीके भी हाथका न खावें, अपने ही हाथसे पकाकर खावें। इस प्रकार आत्मशुद्धिका स्थान शरीरशुद्धिने लेलिया और यही एकमात्र धर्म बन गया।

परन्तु गृहस्थीके वास्ते स्वपाकी रहना बहुत कठिन है, इस कारण लाचार होकर फिर कुटुम्ब वालोंके हाथका और फिर अपनी जाति वालोंके हाथका भी खाना शुरू होगया। दूर प्रदेशमें जाना पड़ा तो उसके लिये दूधमें ओसने हुए आटेसे जो खाना बने उसको बाहर लेजानेकी भी खुल्लस करनी पड़ी। फिर कहीं २ बिना दूधमें उसने एक मात्र घीमें पकाया पकवान भी बाहर लेजाना ज़ायज़ होगया। आत्म शुद्धिका सब मामला छूटकर जब एक शरीर शुद्धि और खानपानकी छूत अछूत ही एक मात्र धर्म रह गया तो इसकी बड़ी देखभाल रहने लग गई। जो कोई छूत छातके इन नियमोंको तोड़े वही धर्म भ्रष्ट माना गया और एक दम अलग कर दिया गया। ब्राह्मणोंकी अनेक जातियाँ हैं जिनमें गौड़ आदि कुछ जातियोंके सिवाय बाकी सब जायियाँ मांस खानेको धर्म विरुद्ध नहीं समझती हैं। इन माँसाहारियोंमें भी जो अधिक धर्मनिष्ठ है वे जब

नदी या तालाब परसे स्नान करके आते हैं तो मार्गमें बड़ा विचार इस बातका रखते है कि कोई उनके शरीर या वस्त्रसे न छू जाय और यदि कोई छू जाता है तो तुरन्त वापिस जाकर नहाते हैं। यदि भोजन बनानेके वास्ते कोई मछली या अन्य कोई माँस उनके पास हो तो उससे वे अपवित्र नहीं होंगे, किन्तु किसीके छू जानेसे ज़रूर अपवित्र हो जायेंगे। इस ही प्रकार माँस मछली-के पकानेसे उनकी रसोई अपवित्र न होगी, न मांस मच्छी खानेसे उनको कोई अपवित्रता आवेगी, परन्तु उनकी रसोई बनाई और खाते समय अगर कोई मनुष्य चाहे वह ब्राह्मण ही हो परन्तु उनकी जातिका न हो अभी स्नान करके आया हो, कपड़े भी पवित्र हों, तो भी यदि वह मनुष्य उनकी रसोईके चौकेकी हदके अन्दरकी धरतीको भी छू दे, तो वह रसोई भ्रष्ट होकर खाने योग्य न रहेगी।

"जैनधर्म ऐसी बातोंसे कोसों दूर है। भंग, धतूरा, चरस और गाँझा आदि मादक पदार्थ जो बुद्धिको भ्रष्ट करने वाले हैं उनको तो कुव्यसन बताकर जैन-धर्म सब से पहले ही उनके त्यागनेकी शिक्षा देता है, जो वस्तु मनुष्यको मनुष्य नहीं रहने देती उसकी विचार शक्तिको भ्रष्ट करती है, उसका सेवन करना तो किसी प्रकार भी धर्म नहीं हो सकता है। ऐसी वस्तु तो सब ही मनुष्यों को त्यागने योग्य हैं।, परन्तु कैसे आश्चर्यकी बात है कि हिंदुओंके बहुतसे त्यागी और साधु वैरागी तो ज़रूर ही इन मादक पदार्थोंका सेवन करते हैं। और गृहस्थी लोग भी उनकी संगतिसे यह कुव्यसन ग्रहण करने लग जाते हैं। सब हिंदू मंदिरोंमें यह व्यसन ज़ोर शोरसे चलता रहता है, ऐसे व्यसनियोंका जमघट उनके मंदि-रोंमें लगा रहता है। इसके विपरीत जैनधर्म ऐसी बातों को पाप बताता है और ऐसी संगतिसे भी दूर रहनेकी शिक्षा देता है, जिसने धर्म-साधनमें अभी कदम भी नहीं रक्खा है उसको भी जैनधर्म तो सर्व प्रकार नशोंसे दूर रहना ज़रूरी बताता है।

अब रही स्नान और शरीर शुद्धिकी बात, यह भी हिंदूधर्ममें ही धर्म माना जा सकता है। जैनधर्ममें नहीं; जैनधर्म तो आत्म शुद्धिको ही धर्म ठहराता है और उस ही के सब साधन सिखाता है। शरीरको तो महा अशुद्ध और अपवित्र बताकर उसके प्रति अशुचि भावना रखना ज़रूरी ठहराता है। मनुष्यका यह शरीर जो हाड माँस रुधिर आदिसे बना है, विष्ठा मूत्र बलग़म और पीप आदिकी जो थैली है वह तो सात समुद्रोंके पानीसे धोने पर भी पवित्र नहीं हो सकता है। किन्तु इसके छूनेसे तो पवित्र जल भी अपवित्र हो जाता है, इस कारण स्नान करना किसी प्रकार भी धर्म नहीं हो सकता है। पद्मनन्दि पच्चीसीमें तो आचार्य महाराजने अनेक हेतुओंसे स्नान करनेको महापाप और अधर्म ही ठहराया है। परन्तु गृहस्थी लोगोंको जिस प्रकार अपनी आजी-विकाके वास्ते खेती, व्यापार, फ़ौजी नौकरी और कारीगर आदि अनेक ऐसे धंधे करने जरूरी होते हैं जिनमें जीव हिंसा अवश्य होती है, इस ही से वे सावद्य कर्म कहलाते हैं। जिस प्रकार गृहस्थीको अपने रहनेके मकानको झाड़ना बुहारना और लीपना पोतना ज़रूरी होता है यद्यपि मकानकी इस सफाईमें भी जीव हिंसा ज़रूर होती है परन्तु गृहस्थीके लिये यह सफ़ाई रखना भी ज़रूरी है। ऐसा ही अपने कपड़ों और शरीरको धोना और साफ़ रखना भी उसके लिये ज़रूरी है। शरीर उसका वास्तवमें महा निंदनीय और अपवित्र पदार्थोंका बना हुआ है परन्तु उससे उसका मोह नहीं छूटा है, ऐसा ही अपने कपड़ों और मकानसे भी मोह नहीं छूटा है, और न इन्द्रियोंके विषय ही छूटे हैं। इस कारण मकान

के असबाबको, वस्त्रोंको और शरीरको सब ही को सुंदर बनाये रखनेके वास्ते झाड़ना, पोंछना, लीपना, पोतना और धोना यह सब काम करना उसके लिये ज़रूरी है। जिनमें जीव हिंसा ज़रूर होती है परन्तु गृहस्थीके ये सब कार्य उसके लिये ज़रूरी होने पर भी किसी तरह भी धर्म कार्य नहीं होसकते हैं,हैं तो यह सब त्यागने योग्य ही, जो संसारी और गृहस्थी होनेके नातेसे ही ज़रूरी हो रहे हैं। इस ही कारण ज्यों ही वह गृहस्थी किंचित्मात्र भी पापोंका त्याग शुरू करता है, अणुव्रती बनकर दूसरी प्रतिमा ग्रहण करता है, तब ही से उसको स्नानके त्यागका भी उपदेश मिलने लग जाता है। अव्वल तो भोगोपभोग परिमाण व्रतमें उसको शरीरके शृङ्गार आदिके त्यागमें स्नानको भी एक प्रकारका इंद्रियोंका व्यसन और भोग बताकर कुछ २ समयके लिये त्यागनेको कहा गया है। फिर प्रोषधोपवासके दिन तो अवश्य ही स्नान और शरीर शृङ्गारका त्यागना ज़रूरी ठहराया है। इस ही प्रकार ज्यों २ वह इंद्रियोंके विषय और हिंसाके त्यागकी तरफ़ बढ़ता जाता है। इन्द्रिय संयम और प्राण संयम करने लगता है त्यों २ वह स्नान करना भी छोड़ता जाता है। यहाँ तक कि मुनि होने पर तो वह स्नान या अन्य किसी प्रकार शरीरको धोना पूंछना या साफ़ करना या बिल्कुल ही छोड़ देता है। स्नान करना या अन्य किसी प्रकार शरीरको शुद्ध रखना किसी प्रकार भी पारमार्थिक धर्मका कोई अंग नहीं हो सकता है वह एक मात्र इन्द्रियोंका विषय और शरीरका मोह ही है जो गृहस्थियोंको इसी कारण करना ज़रूरी होता है कि वे अपनी इन्द्रियोंके विषयोंको और शरीरके मोहको त्यागनेमें असमर्थ होते हैं। लाचार हैं और मोहके कारण बेबस हो रहे हैं। परन्तु जो इन्द्रियोंके विषयको और मोहको पाप समझकर त्यागनेमें समर्थ हो सकते हैं वे जितना २ उनका मोह घटता है उतना २ स्नानको और शरीरकी सफ़ाईको त्यागते जाते हैं। यहाँ तक कि मुनि होने पर तो स्नान करना और शरीर धोना पोंछना बिल्कुल ही त्याग देते हैं। यही नहीं वे तो टट्टी जाकर कमण्डलुके जिस पानीसे गुदा साफ़ करते हैं; उस ही से हाथ धोकर फिर मिट्टी आदि मलकर किसी दूसरे शुद्ध पानीसे हाथोंको पवित्र करना भी ज़रूरी नहीं समझते हैं। उन ही अपवित्र हाथोंसे शास्त्र तकको छूते रहते हैं। कारण कि शरीरकी शुद्धि धर्म नहीं है और न हाड माँससे बने शरीरकी शुद्धि हो ही सकती है। धर्म तो एकमात्र आत्मशुद्धि करता ही है जो राग द्वेष आदि कषायों और इन्द्रियोंके विषयोंको दूर करनेसे ही होती है। तब ही तो जैनधर्ममें दस लक्षण कथनमें शौच धर्म मात्रको शरीर शुद्धि न बताकर आत्माको कषायोंसे शुद्ध करना और विशेषकर लोभ कषायका निर्मूल करना ही शौचधर्म बताया है। संसारकी वस्तुओंसे ग्लानि करना भी जुगुप्सा नामकी कषाय ठहराया है और जैनधर्मका श्रद्धान करनेके वास्ते शुरूमें ही श्रद्धानके अंगस्वरूप चिकित्सा अर्थात् ग्लानि न करना ज़रूरी बताया है। विशेषकर जैनधर्मके मुनि और साधु जिनका तन अत्यन्त ही मलिन रहता है, जो आँखों और दाँतों तकका मैल नहीं छुड़ाते हैं और न टट्टी जाकर अपने हाथ ही मटियाते हैं उनसे किसी भी प्रकारकी घृणा न करना, उनको किसी भी प्रकार अपवित्र या अशुद्ध न समझना किन्तु राग द्वेष और विषय कषायोंके मैलसे रहित होकर अपनी आत्माको शुद्ध करनेके लिये शरीरका ममत्व छोड़ आत्म ध्यानमें लगे रहने वाले शरीरसे मैले कुचैले इन साधु मुनियोंको ही परम पवित्र और शुद्ध समझना सिखाता है।

मनुष्योंका जीवन या साधन दो प्रकारका होता है,

एक लौकिक या सांसारिक और दूसरा धार्मिक या आध्यात्मिक। लौकिक जीवन जो कोई जितना भी अधिक परिग्रही, अधिक सम्पत्तिवान् वैभवशाली, ठाठ बाट और शान शौकतसे रहने वाला, साफ सुथरे, चमक दमक और तड़क भड़कके सामानसे सुसज्जित, अनेक महल मकान, बाग़ बग़ीचे, हाथी घोड़े, नालकी पालकी, नौकर चाकर बांदी गुलाम रखने वाला। अनेक प्रकारकी सुँदर २ स्त्रीरत्नोंसे जिसके महल भरे हुये, अनेक देशों और अनेक राजाओंपर जिसकी हकूमत चलती हो। देश विदेश विजय करता फिरता हो, बड़ा भारी जिसका दबदबा हो वही बड़ा है, पूज्य है और प्रशंसनीय है, स्तुति और विरद गानेके योग्य है। वह अपने शरीरसे जितनी भी ममता करे थोड़ी है। शरीरकी पुष्टिके वास्ते सत्तर प्रकारके भोजन खाता हो। अनेक वैद्य जिसके लिये अत्यंत पौष्टिक और सुस्वादु औषधियां बनानेमें लगे रहते हों, अनेक चाकर और चाकरनियां जिसके शरीर को चिकना मुलायम और सुँदर बनानेमें नाना प्रकारके तेलों और उबटनोंसे उसके शरीर का मर्दन करें, दिनमें कई २ बार नहलाते रहते हों और कई२ बार नवीन वस्त्र बदलते रहते हों, उस ही का संसारी जीवन सबसे उत्कृष्ट और बढ़िया है।

परन्तु आध्यात्मिक या धार्मिक जीवन इससे बिलकुल ही विपरीत है। वह जीवन सबसे उत्कृष्ट तो साधुओं का होता है, जिनके पास परिग्रहके नामसे तो एक लँगोटी मात्र भी नहीं होती है। शास्त्र तो धर्मका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये, पीछी जीव जन्तुओंके प्राण संयम के लिये और कमण्डलमें पानी टट्टी जाकर गुदा साफ़ करनेके लिये है, इसके सिवाय उनको सब ही प्रकारके सामानका त्याग होता है। शरीरसे निर्ममत्व होकर जो न स्नान करते हैं, न किसी दूसरी प्रकार उसको झाड़ते पोंछते ही हैं। जो आंखों और दांतों तकका भी मैल नहीं छुड़ाते हैं। जो सजे सजाये महल मकान, अत्यंत जगमगाती और चहल पहल करती हुई मनुष्योंसे भरी आबादी, साफ सुथरी रहने वाली सुँदर २ स्त्रियां और सब ही वैभव छोड़कर जंगलमें जा विराजते हैं, धरती पर सोते हैं, खाकपर लेटते हैं, सर्दी, गर्मी, डांस मच्छर के दुख सहते हैं और कुछ भी परवाह नहीं करते हैं। लौकिक साधना वालेको तो अपनी इन्द्रियों और कषायोंको पुष्ट करना होता है, इस कारण वो अपने शरीरको भी साफ और सुंदर बनाये रखनेकी कोशिश करता है और अपने महल मकान और अन्य सब वस्तुओंको भी झाड़ता पोंछता रहता है वह तो अपनी प्यारी स्त्रियों नौकरों चाकरों और हाथी घोड़ों आदि पशुओंको भी साफ़ सुँदर देखना चाहता है, इस कारण आप भी बार २ नहा-धोकर सुँदर २ वस्त्रों और अलंकारोंसे सुसज्जित होता है और अपनी स्त्रियों, नौकरों, पशुओं, महल मकानों, और सभी सामानको धो-पूंछकर साफ कराता रहता है और तरह २ के सामानसे सजाता रहता है। इसके विपरीत अध्यात्म-साधना वालेको अपने शरीर और तत्सम्बन्धी अन्य सब ही भोगों तथा सब ही सामानसे मुँहमोड़ एक मात्र अपनी आत्माको रागद्वेष और विषय कषायोंके मैलसे दूर कर शुद्ध और पवित्र बनानेकी ही धुन होती है।

इस प्रकार जैन-धर्मके अनुसार तो जितना भी कोई शरीरका मोह छोड़, उसके प्रति सदा अशुचि भावना रख, उसके धोने, मांजने और साफ व शुद्ध करनेके बखेड़ेमें न पड़कर अपनी आत्माके ही शुद्ध करनेमें लगता है, उतना ही वह धर्मात्मा और आध्यात्मिक है, और जितना २ कोई इस शरीरको धो-माँजकर सुँदर बनानेमें मन लगाता है उतना २ ही वह संसारी है।

मुनिका जीवन सर्वथा आध्यात्मिक जीवन है, लौकिक जीवनका उसमें लेश भी नहीं है, इस कारण वह शरीर को किंचित मात्र भी धोता मांजता नहीं है। अणुव्रती का जीवन धार्मिक और लौकिक दोनों ही प्रकार मिश्रित रूप होता है, जितना २ वह धार्मिक होता है, उतना २ तो वह शरीरको धोता मांजता नहीं, किंतु विषय कषायों-के ही दूर करनेकी फिक्र करता है और जितना २ वह लौकिक हो जाता है, उतना २ वह शरीरको भी सुँदर बनाता है और अन्य प्रकार भी अपनी विषय कषायोंको पुष्ट करता है। इस अणुव्रती श्रावकको शास्त्रकारोंने दूसरी प्रतिमासे ग्यारहवीं प्रतिमातक दस श्रेणियोंमें विभाजित किया है। इन श्रेणियोंमें उत्तरोत्तर जितनी २ किसीकी लौकिक प्रवृत्ति कम होती जाती है और अध्यात्म बढ़ता जाता है उतना ही उतना शरीरका धोना मांजना सिंगार करना और पुष्ट करना भी उसका कम होता जाता है। अब रहा पहली प्रतिमा वाला जो श्रद्धानी तो होगया है किन्तु चरित्र अभी कुछ भी ग्रहण नहीं किया है। किंचित् मात्र भी जिसने अभी त्याग नहीं किया है, किंतु त्याग करना चाहता ज़रूर है, वह नित्य प्रति शरीरको धोता, मांजता, शृंगार करता और पुष्ट करता ज़रूर है। अन्य भी सब प्रकारकी विषय-कषायोंमें पूर्ण रूपसे लगा भी ज़रूर होता है परन्तु इन को धर्म विरुद्ध और लोक साधना मात्र समझ कर त्यागना ज़रूर चाहता है इससे भी घटिया जिसको धर्म का श्रद्धान ही नहीं हुआ है, निरा मिथ्यात्वी ही है वह तो अपनी विषय कषायोंकी पुष्टिको और अपने शरीर को धो-मांजकर सुँदर रखने और पुष्ट बनानेको ही अपना मुख्य कर्त्तव्य और अपने जीवनका मुख्य ध्येय समझता है।

अब ज़रा खाने पीनेकी शुचिक्रियापर भी ध्यान दीजिये और जाँच कीजिये कि इस विषयमें भी हिन्दु धर्म और जैनधर्ममें क्या अन्तर है। हिन्दुओंके महा मान्य ग्रन्थ मनुस्मृतिमें हर महीने पितरोंका श्राद्ध करना और उसमें मांसका भोजन बनानेकी बहुतही ज्यादा ताकीदकी गई है और यहांतक लिखा है कि श्राद्धसे नियुक्त हुआ जो ब्राह्मण मांस खानेसे इन्कार करदे वह इस महा अपराधके कारण हरबार पशु जन्म धारण करेगा उनके इस ही महामान्य ग्रन्थमें यह भी लिखा है कि यदि कोई द्विज अर्थात् ब्राह्मण,क्षत्रिय,वैश्य लहसुन और अन्य भी अनेक बनस्पति जिनका ब्यौरा उसमें दियाहै खाले,खाना तो दूर रहा खानेका मनमें विचार भी कर ले तो वह पतित हो जाता है। अर्थात् बिना प्रायश्चितके शुद्ध नहीं हो सकता है। अब विचार कीजिये कि यह दोनों कथन कैसे संगत होसकते हैं ब्राह्मण व अन्य वे जातियां जो माँस खाना उचित मानती हैं बहुधा शिकारी कुत्तों-से या अन्य शिकारी जानवरोंसे मारा हुआ पशु पक्षी, इसी प्रकार चांडाल आदि व्याधोंसे मारा हुआ मांस शुद्ध समझती हैं और ग्रहण कर लेती हैं, मुसलमान क़साईकी दुकानसे बकरेका मांस भी ले जाती हैं परन्तु वह मांस कपड़े उतारकर ही पकाया और खाया जावेगा, यहांतक कि जिस चौकेमें वह मांस पकता हो,उस चौके की धरतीको भी यदि कोई उन्हींकी जातिका पुरुष शुद्ध कपड़े पहने हुए भी छूदे तो सारी रसोई भ्रष्ट हो जावेगी,

सभी हिन्दु, जिनमें अब बहुतसे जैनी भी शामिल हैं, चौकेसे बाहर कपड़े पहने हुए यहाँ तक कि कोई २ तो जूते पहने हुए भी पानी दूध, चाय और आम अमरूद अंगूर अनार आदि फल तथा और भी अनेक पदार्थ खा पी लेते हैं। इस ही प्रकार बहुधा हिन्दु और जैनी जो मुसलमानके घरका दूध और घी खाते हैं वे भी रोटी चौकेसे बाहर खानेसे पतित समझे जाते हैं।

सबकी बाबत हम नहीं कह सकते परन्तु बहुधा ऐसे हैं जो मुसलमान और अछूतोंके हाथसे साग सब्जी लेकर खाते हैं उनसे ली हुई साग सब्जी कच्ची तो वे चौकेसे बाहर कपड़े पहने भी खा लेते हैं परन्तु पकायेंगे उसको चौकेमें कपड़े निकाल कर ही और खायेंगे भी कपड़े निकाल कर ही। यदि कपड़े पहने खालें तो महा भ्रष्ट पापी और पतित माने जायें । मुसलमान साग सब्जी बेचने वाले हमारी आंखोंके सामने अपने मिट्टीके लोटे से साग सब्जी पर पानी छिड़कते हैं, चाकूसे काटते तराशते हैं, हाथसे तोड़ते हैं, और हममें से बहुतसे उन से मोल लेकर खाते हैं। यह सच है कि घर जाकर उन को धो लेते हैं परन्तु जो पानी दिन भर उनपर छिड़का जाता रहा है वह तो उन साग सब्जियोंके अन्दर ही प्रवेश कर जाता है और इसी गरजसे उन पर छिड़का जाता है कि जिससे वे हरी भरी रहें। तब धोनेसे तो वह पानी निकल नहीं सकता है, तो भी धोकर वह साग सब्जी खाने योग्य हो जाती है, इनमें से मूली गाजर केला अनार अमरूद आदि जो फल कच्चे ही खाने होते हैं वे तो चौकेसे बाहर भी सब जगह कपड़े पहने हुए ही खा लिये जाते हैं, यहां तक कि जूता पहने हुए भी खा लिये जाते हैं। परन्तु पकाये जायेंगे चौकेमें कपड़े निकाल कर ही और पकाकर भी खाये जायेंगे निकाल कर ही । इस प्रकार यह मामला ऐसा विचित्र है कि जिसका कोई भी सिद्धान्त स्थिर नहीं होता है। यदि यह कहा जाय कि अग्निका सम्बन्ध होनेसे ही ऐसी शुचि क्रियाका करना ज़रूरी हो जाता है तो चने मटरके बूट और मूंगफलीके होले, तो जंगलमें भी भून कर खा लिये जाते हैं। अनेक प्रकारके चबैने और चिड़वे भी इस ही प्रकार खा लिये जाते हैं। इस प्रकार कोई भी सिद्धान्त स्थिर नहीं हो पाता है।

मोटे रूपसे विचार करनेसे तो यह ही मालूम होता है कि हमारे जैनी भाई हिंदुओंकी ऐसी जातियोंका जब बिलकुल ही मांस त्यागी हैं, अनुकरण कर इस विषयमें सभी नियम आँख मींचकर उन्हींके अनुसार पालने लग गये। हिंदुओंमें उनके नियम सारे हिन्दुस्तानमें प्रायः एक समान नहीं है। प्रान्त २ में भिन्न २ रूपसे बरते जाते हैं । हमारे जैनी भाई भी जिस जिस प्रान्तमें रहते हैं उस २ प्रान्तके हिंदुओंके अनुसार ही प्रवर्तते हैं और इस ही को महाधर्म समझते हैं । अजब गुल गपाड़ा मचा हुआ है । कोई भी सिद्धांत स्थिर नहीं हो पाता है ।

जैनधर्ममें हिंसा, चोरी, झूठ, परस्त्रीसेवन और परिग्रह ये ही महापाप बताये हैं। इनही पापोंके त्यागके वास्ते अनेक विधिविधान ठहराये हैं । जो जितना इन पापोंको करता है वह उतना ही पापी है और जो जितना भी इन पापोंसे बचता है वह उतना ही धर्मात्मा है। परन्तु जबसे जैनियोंने अपने हिन्दु भाइयोंके प्रभावमें आकर—(हिन्दू २५ करोड़ और जैनी ११ लाख ही रहजानेसे—उनका प्रभाव पड़ना तो ज़रूरी था ही) धर्मात्मा और अधर्मी, शुद्ध और पातकीका निर्णय करनेके वास्ते अपने इन २५ करोड़ हिन्दु भाइयोंका ही सिद्धान्त ग्रहण कर लिया है, तबसे जैनियोंमें भी यदि कोई कैसा ही चोर, दग़ाबाज़, झूठा, फ़रेबी, परस्त्रीलम्पट, वेश्यागामी, महापरिग्रही, धन-लोलुपी, यहाँ तक कि अपनी दस बरसकी छोटीसी बेटीको धनके लालचसे ६० बरसके बूढ़े खूसटको बेच कर उसका जीवन ही नष्ट भ्रष्ट कर देने वाला हो, कहाँ तक कहें, चाहे जो कुछ भी करता हो। जिसको कहते शर्म आती है परन्तु चौकेके नियमोंको अपने प्रान्तकी प्रचलित रीतिके अनुसार पालता हो तो वह पातकी

नहीं है। किंतु यदि वह उपरोक्त पाँचों पापोंको करने वाला दूसरोंकी अपेक्षा और भी सख्तीके साथ इन नियमोंको पालता है तो वह धर्मात्मा है और प्रशंसनीय है। और जो जो इन पांचों पापोंसे बहुत कुछ बचता है, यहाँ तक कि शास्त्रानुसार पांचों अणुव्रत पालता है परन्तु चौकेके नियम अपने प्रान्त और अपनी जातिके अनुसार नहीं पालता है, दृष्टान्तरूप जिस प्रान्तमें रोटी कपड़े उतारकर और चौकेमें बैठकर ही खाई जाती है, उस प्रान्तका रहनेवाला पक्का अणुव्रती अगर चौकेसे बाहर दूसरे पवित्र और शुद्ध मकानमें रोटी लेजाकर शुद्ध और पवित्र कपड़े पहने हुए खा लेता है तो वह महा पतित और अधर्मी गिना जाता है।

इस ही प्रकारके अन्य भी अनेक दृष्टान्त दिए जा सकते हैं जिनमें जैनियोंमें उन पापोंसे बचनेकी बहुत शिथिलाचारिता आगई है जिनको जैनधर्ममें पाप ठहराया है। एक मात्र इन प्रान्तीय बाह्य क्रियाओंका करना ही धर्म रह गया है, जिससे ढौंग और दिखावा बहुत बढ़ गया है। वास्तविकधर्मका तो मानों बिल्कुल लोप ही होता जारहा है। अन्य मतियोंके सिद्धान्तों पर या बिना विचारे रूढ़ियों पर चलनेसे तो जैनधर्म किसी तरह भी नहीं टिक सकता है। इसी कारण आचार्योंने जैनियोंको अमूढ़दृष्टि रहने अर्थात् बिना विचारे आँख मींचकर ही किसी रीति पर चलनेसे मना किया है। दुनियाके लोगोंकी रीस न कर निर्भय होकर अपनी आत्माके कल्याणके रास्ते पर ही चलनेका उपदेश दिया है।

हिन्दूधर्म कहता है कि जिसने ब्राह्मणके घर जन्म लिया है वह गुणवान न होता हुआ भी, हीन कार्य करता हुआ भी पूज्य, परन्तु शूद्रके घर जन्म लेने वाला यदि वेदका कोई शब्द भी सुनले तो उसका कान फोड़ देना चाहिये, यदि वह तपस्या करने लगे तो उसको जानसे मार डालना चाहिये। परन्तु जैनधर्ममें यह बात नहीं है। श्री समन्तभद्र स्वामी लिखते हैं कि चांडालका पुत्र भी जैनधर्मका श्रद्धान करले तो देव समान हो जाता है। इस ही से आप विचारलें कि जैनधर्म में और हिन्दूधर्ममें कितना आकाश पातालका अंतर है। बाह्य शुद्धि और सफ़ाई रखना बेशक गृहस्थोंके वास्ते ज़रूरी है। परन्तु उसका कोई सिद्धान्त ज़रूर होना चाहिये, जिसके आधार पर उसके नियम स्थिर किये जावें। उन्मत्तकी तरहसे कहीं कुछ और कहीं कुछ करनेसे तो मखौल ही होता है; कारज कोई भी सिद्ध नहीं होसकता है। इस कारण विचारवान पुरुषोंको उचित है कि आपसमें विचार-विनिमय करके जैन-धर्मानुसार इसका कोई सिद्धान्त और नियम स्थिर करें जो सब ही प्रान्तों और जातियोंके वास्ते एक ही हो। कहीं कुछ और कहीं कुछ जैसा अब हो रहा है, यह न रहे और यदि यही बात स्थिर करनी हो कि जिस-जिस प्रान्तमें अन्य हिंदुओंका जो वर्ताव है वही जैनियोंको भी रखना चाहिये, जिससे उन लोगोंको जैनियोंसे घृणा न हो, तो चौकेकी इस शुद्धि-सफ़ाई और छूतछातके इन सब नियमोंको धार्मिक न ठहराकर बिल्कुल ही लौकिक घोषित कर दिया जाय, जिससे जैनियोंको इस चौका-शुद्धि के अतिरिक्त आत्म-कल्याण रूप धर्मसाधनकी भी फिकर होने लगजाये। धर्मात्मा और अधर्मात्माकी कसौटी यह चौकेकी अद्भुत शुद्धि नरह कर पंच पापोंका त्याग ही उसकी जाँचकी कसौटी बन जाय।

इस विषयमें बहुत कुछ लिखनेकी ज़रूरत है, परन्तु अभी इस विषयको छोड़कर हम यह जानना चाहते हैं कि हमारे विचारवान विद्वान भी कुछ इस तरफ़ ध्यान देते हैं या नहीं। या बुरा भला जो कुछ होरहा है तथा

होता रहेगा, इसीके धक्के-मुक्केसे जैनियोंमें भी जो कुछ परिवर्तन होगा उसको ही होने देना उचित समझते हैं। निर्जीवकी तरहसे दूसरी शक्तियोंके ही प्रवाहमें बहते रहना पसन्द करते हैं, खुद कुछ नहीं करना चाहते हैं।

अन्तमें हम इतना कह देना ज़रूरी समझते हैं कि आज-कल सब ही जातियोंमें परिवर्तन बड़े वेगसे होरहा है। परिवर्तनसे खाली कोई नहीं रह सकता है। वह परिवर्तन बिगाड़ रूप हो या संवार रूप, यह कोई नहीं कह सकता है। हाँ, इतनी बात ज़रूर है कि जो अपना परिवर्तन आप नहीं करेंगे किन्तु दूसरोंके ही प्रवाहमें बहना चाहेंगे उनका अस्तित्व कुछ नहीं रहेगा। उचित तो यही है कि जो भी रूढ़ियाँ जैनधर्मके विरुद्ध हममें आगई हैं उनको दूर कर हम अपना सुधार जैन सिद्धान्तानुसार करलें। यदि ऐसा नहीं करेंगे और दूसरों के ही परिवर्तनमें परिवर्तन होना पसन्द करते रहेंगे तो जैनधर्मका रहा सहा अस्तित्व भी नहीं रहेगा।

आप यह बात देख रहे हैं कि जबसे गांधी महाराजने अछूतोंसे अछूतपन न रखनेका आन्दोलन चलाया है और कांग्रेसने इसका बीड़ा उठाया है, तबसे अनेक हिन्दुओंने तदनुसार ही वर्तना शुरू करदिया है और अनेक जैनी भी उनके प्रभावमें आ तदनुसार ही प्रवर्तने लग गये हैं। इस ही प्रकार अनेक हिन्दू बैरिस्टरों, वकीलों डाक्टरों, और जजों आदिने मेज़ पर रोटी खाना शुरू करदिया है तो अनेक अँग्रेज़ी पढ़े जैनी भी उनकी देखा देखी ऐसा ही करने लग गये हैं। इस ही प्रकार बहुधा हिन्दुओंमें बरफ़ और सोडावाटर पीनेका प्रचार देख जिसके बनानेमें हिन्दू मुसलमान, छूत-अछूत सब ही का हाथ लगता है, हमारे कुछ जैनी भाई भी इनको ग्रहण करनेमें आनाकानी नहीं करते हैं। इसी प्रकारके अन्य भी अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं जिससे यह स्पष्ट है कि हमारे हिन्दू भाइयोंमें जिन जिन बुरी भली बातोंका प्रचार होगा वे सब बातें समयके प्रभावसे आगे भी आहिस्ता आहिस्ता जैनियोंमें भी आती रहेंगी; कारण कि जैनियोंने इस विषयमें जैनसिद्धान्तानुसार कोई नियम स्थिर नहीं कर रक्खा है, किन्तु जिस जिस प्रान्तमें हिन्दुओंका जो व्यवहार है उस ही का अनुसरण करना अपना धर्म मान लिया है यहाँ तक कि जो बातें जैन धर्मके प्रतिकूल भी हैं उनका भी अनुकरण दृढ़ता के साथ किया जाता है, जैसा कि राजपूतानेमें ब्याह शादीमें जलेबियोंका बनाना और जीमना जिमाना, बड़ी हृदय विदारक मौतमें भी सबका नुकता जीमना और जिमाना आदि। यदि जैनियोंकी यही प्रगति और अनुकरणशीलता रही और अपना कोई अलग अस्तित्व स्थिर न किया गया तो नहीं मालूम हिन्दू भाईयोंके प्रवाहमें बहते बहते हम अपने धर्मकी सारी विशेषताको खोकर कहाँसे कहाँ पहुँच जायें और किस गढ़ेमें जापड़ें।

आजकल तो ऐसा होरहा है कि प्रचलित रूढ़ियोंके विरुद्ध अपने हिन्दू भाइयोंका अनुकरण जब कुछ थोड़े ही जैनी भाई शुरू करते हैं तब तो सेठ साहूकार और बिरादरीके पँच रूढ़ियोंकी दुहाई देकर उनको बहुत कुछ बुरा भला कहने लग जाते हैं, विद्वान लोग भी उनकी हाँ में हां मिलाकर धर्मचला धर्मचलाकी रट लगाने लग जाते हैं। फिर जब कुछ अधिक लोग इस नवीन मार्गपर चलने लग जाते हैं तो लाचार होकर सब ही पंच और पंडित भी चुप हो जाते हैं। पंचम कालमें तो ऐसा होना ही है ऐसा कहकर संतोष कर लेते हैं। इस प्रकारकी गड़बड़ जैनजातिमें बहुत दिनोंसे होती चली आरही है, यदि कोई सुधारवादी इस विषयमें कुछ आवाज़ उठाता भी है और विद्वानोंको इसमें योग

देनेके लिये ललकारता है तो ये विद्वान लोग एकदम घबरा उठते हैं, सोचते हैं कि अबतक तो कर्तव्यहीन अकर्मण्य, साहसहीन, और शिथिलाचारी होकर प्रमाद की नींद ले रहे थे, अनपढ़ पंचों और सेठ साहूकारोंकी हांमें हां मिलाकर, प्रचलित रूढ़ियोंको ही जैनधर्म बताकर, बिना कुछ करे कराये ही वाहवाही ले रहे थे, अब इन सभी रीति रिवाजोंकी जांच कर किस प्रकार उनमेंसे किसीको जैनधर्मके अनुकूल और किसीको प्रतिकूल सिद्ध करनेका भारी बोझा उठावें, किस प्रकार जैन-सिद्धान्तोंके अनुसार उनके सब व्यवहार स्थिर करके कोई उचित नियम बनावें। इस कारण वह घबराकर इस हीमें अपनी बचत समझते हैं कि सुधारकी आवाज उठानेवालोंको अश्रद्धानी और शिथिलाचार फैलानेवाला बताकर विचारहीन जनताको उनके विरुद्ध करदें और लोगोंकी मानी हुई प्रचलित रूढ़ियोंको ही धर्म ठहराकर वाहवाही प्राप्त करलें।

यह कोई नवीन बात नहीं है, सदासे ऐसा ही होता चला आया है अकर्मण्य लोग सदा ऐसा ही किया करते हैं जिससे सुधारकी प्रगतिमें बड़ी बाधा आती है। परन्तु जो सच्चे सुधारक हैं, वे इन सब चोटोंको सहकर मरते मरते अपने कर्तव्यको नहीं छोड़ते हैं और एक न एक दिन कामयाब ही होते हैं और उन हीसे यश पाते हैं जो उनको अधर्मी और महापापी कह कर बदनाम किया करते थे। प्रवाहमें बहने वालोंका अपना कोई अस्तित्व तो होता ही नहीं है, प्रवाह पूर्वको चला तो वे भी पूर्वको बह गये और प्रवाह पश्चिमको चला तो वे भी पश्चिमको बहने लग गये, उधरके ही गीत गाने लग गये। इस प्रकार महा अकर्मण्य बने रहनेसे ही, प्रत्येक समयमें और प्रत्येक दशामें वाहवाही लेते रहे।

—:*:—

'वीरशासनाङ्क' पर कुछ सम्मतियाँ

(३) पं० अजितकुमारजी शास्त्री, मुलतान सिटी—

"अनेकान्तका वीर शासनाङ्क मिला। देखकर प्रसन्नता हुई। इसका सम्पादन अच्छे परिश्रमके साथ हुआ है, उसमें आपको अच्छी सफलता भी मिली है। इस अंकमें बा० जयभगवानजी वकीलका 'सत्य अनेकान्तात्मक है' शीर्षक लेख अच्छा पठनीय है। 'यापनीय संघका साहित्य' लेख भी अन्वेषणके लिये उपयोगी है। 'जैनलक्षणावलि' का प्रकाशन जैन साहित्यकी एक संग्रहणीय वस्तु है। और भी कई लेख पठनीय हैं। वृद्ध अवस्थामें भी आप युवकोंसे बढ़कर परिश्रम कर रहे हैं यह नवयुवक साहित्य सेवियोंके लिये आदर्श है।"

(५) श्री० भगवत्स्वरूपजी जैन 'भगवत्'—

"वीर शासनअंक' को देखकर मुग्ध होगया! इतना अच्छा, महत्वपूर्ण विशेषाङ्क निकट भविष्यमें शायद ही आँखोंके आगे आए। 'अनेकान्त' जैन समाजकी जहाँ त्रुटिकी पूर्तिके रूपमें है, वहाँ हम लोगोंके लिए गौरवकी चीज़ भी! उसका सम्पादन, लेखचयन, प्रकाशन क़रीब क़रीब सब कलात्मक है! वह जितना विद्वानोंको मननीय, और रिसर्चका मैटर देता है, उतना ही बाह्याकृतिसे मुझ जैसोंको लुभा भी लेता होगा, इसमें शायद भूल नहीं। इसके लिए समाजकी तीनों सफल शक्तियाँ—सम्पादक, संचालक और प्रकाशक—आदरकी पात्री हैं।"

वास्तविक महत्ता

बहुतसे लोग लक्ष्मीसे महत्ता मानते, हैं बहुतसे महान् कुटम्बसे महत्ता मानते हैं, बहुत से पुत्रसे महत्ता मानते हैं, तथा बहुतसे अधिकारसे महत्ता मानते हैं। परन्तु यह उनका मानना विवेकसे विचार करनेपर मिथ्या सिद्ध होता है। ये लोग जिसमें महत्ता ठहराते हैं उसमें महत्ता नहीं, परन्तु लघुता है। लक्ष्मीसे संसारमें खान, पान, मान, अनुचरोंपर आज्ञा और वैभव ये सब मिलते हैं, और यह महत्ता है, ऐसा तुम मानते होगे। परन्तु इतनेसे इसकी महत्ता नहीं माननी चाहिये। लक्ष्मी अनेक पापोंसे पैदा होती है। यह आनेपर पीछे अभिमान बेहोशी और मूढ़ता पैदा करती है। कुटम्ब समुदायकी महत्ता पानेके लिये उसका पालन पोषण करना पड़ता है। उससे पाप और दुःख सहन करना पड़ता है। हमें उपाधिसे पाप करके इसका उदर भरना पड़ता है। पुत्रसे कोई शाश्वत नाम नहीं रहता। इसके लिये भी अनेक प्रकारके पाप और उपाधि सहनी पड़ती है। तो भी इससे अपना क्या मंगल है? अधिकारसे परतंत्रता और अमलमद आता है, और इससे जुल्म, अनीति रिश्वत और अन्याय करने पड़ते हैं, अथवा होते हैं। फिर कहो इसमें क्या महत्ता है? केवल पाप जन्य कर्मकी। पापी कर्मसे आत्माकी नीच गति होती है। जहाँ नीच गति है वहाँ महत्ता नहीं परन्तु लघुता है।

आत्माकी महत्ता तो सत्य वचन, दया, क्षमा, परोपकार और समतामें है। लक्ष्मी इत्यादि तो कर्म-महत्ता है। ऐसा होनेपर भी चतुर पुरुष लक्ष्मीका दान देते हैं। उत्तम विद्याशालायें स्थापित करके पर-दुःख-भंजन करते हैं। एक विवाहित स्त्रीमें ही सम्पूर्ण वृत्तिको रोककर परस्त्रीकी तरफ पुत्री भावसे देखते हैं। कुटम्बके द्वारा किसी समुदायका हित करते हैं। पुत्र होनेसे उसको संसारका भार देकर स्वयं धर्ममार्गमें प्रवेश करते हैं। अधिकारके द्वारा विचक्षणतासे आचरणकर राजा और प्रजा दोनोंका हित करके धर्म नीतिका प्रकाश करते हैं। ऐसा करनेसे बहुतसी महत्तायें प्राप्त होती हैं सही, तो भी ये महत्तायें निश्चित नहीं हैं। मरणका भय सिरपर खड़ा है, और धारणायें धरी रह जाती हैं। संसारका कुछ मोह ही ऐसा है कि जिससे किये हुये संकल्प अथवा विवेक हृदयोंमेंसे निकल जाते हैं। इससे यह हमें निःसंशय समझना चाहिये, कि सत्य वचन, दया, क्षमा, ब्रह्मचर्य्य और समता जैसी आत्म महत्ता और कहींपर भी नहीं है। शुद्ध पाँच महाव्रतधारी भिक्षुकने जो ऋद्धि और महत्ता प्राप्त की है, वह ब्रह्मदत्त जैसे चक्रवर्ती ने भी लक्ष्मी, कुटम्बी, पुत्र अथवा अधिकारसे नहीं प्राप्त की, ऐसी मेरी मान्यता है।

—श्रीमद् राजचन्द्र

ज्ञात-वंशका रूपान्तर जाट-वंश

(लेखक—मुनिश्री कवीन्द्रसागरजी, बीकानेर)

[प्रस्तुत लेखका सम्बन्ध इतिहाससे है। 'ज्ञातवंश' का रूपान्तर 'जाटवंश' कैसे हुआ ? क्यों हुआ ? इसके पक्षमें क्या क्या प्रमाण हैं ? आदि बातोंकी चर्चा इस लेखमें कीगई है। साथ ही, इस बात की भी मीमांसा की गई है कि भगवान महावीरदेवके ज्ञातवंश का मूल क्या है ? यह लेख इतिहास-मर्मज्ञोंके लिये एक नई विचार-सामग्री उपस्थित करता है। आशा है विद्वान पाठक इस सम्बन्धमें ऊहापोह करेंगे एवं भगवान महावीर के ज्ञातवंश के सम्बन्ध में अधिकाधिक प्रकाश डालेंगे।]

ज्ञात वंश

पुरुषोत्तम भगवान महावीरकी जीवन-घटनासे संबद्ध होनेके कारण जैन एवं जैनेतर इतिहास-लेखकोंकी दृष्टिमें ज्ञातवंश प्रसिद्ध ही नहीं अति प्रसिद्ध है। कल्पसूत्र नामके जैनागममें बताया गया है कि 'जम्बूद्वीपके दक्षिणार्ध भारतवर्ष में माहण-कुण्डग्राम नामक नगरमें कोडालस गोत्रके ऋषभ-दत्त ब्राह्मणकी जालन्धर गोत्रवाली धर्मपत्नी श्री देवानंदाकी कुक्षिमें भगवान महावीरदेवके गर्भ-रूपसे अवतरित होने पर, देवपति इन्द्र नमस्कार करके सोचने लगा कि तीनों कालोंमें अर्हंतादि-पद-धारी पुरुषोत्तम, भिक्षुक ब्राह्मण आदि कुलोंमें नहीं आते हैं। यह भी सम्भव है कि अनन्तकाल बीतने पर नाम-गोत्रके उदयमें आनेसे अर्हंतादि-पद-धारी भिक्षुक-ब्राह्मणादि कुलोंमें आयें, किन्तु वे योनि-निष्क्रमण-द्वारा जन्म नहीं ले। अतः मेरा कर्तव्य है कि भगवान महावीरको देवनन्दाकी कुक्षिमेंसे निकालकर क्षत्रिय-कुंड-ग्राम नगरमें ज्ञातवंशीय क्षत्रियोंमें काश्यपगोत्रवाले सिद्धार्थ की धर्मपत्नी वाशिष्ठ गोत्रवाली श्रीमती त्रिशला क्षत्रियाणीकी कुक्षिमें संक्रमित कराऊं। यह विचार कर इन्द्रने अपने पदाति-सेना के अधिपति हरि-नैगमेषी देवको इसके लिये आज्ञा की। वह इन्द्रकी आज्ञा पाकर अपनी दिव्य गतिसे भारतमें आकर देवानन्दाकी कुक्षिमेंसे भगवान महावीरका अप-हरण करके त्रिशलाके गर्भमें संक्रमित कर देता है, और त्रिशलाके गर्भ में की लड़कीको देवानन्दाकी कुक्षिमें संक्रमित कर देता है।'

यहां सूत्रकारने साफ २ शब्दोंमें घोषणा की है, कि ज्ञातवंश उच्च-गोत्र-सम्पन्न है। उसमें काश्यप-गोत्र आदि कई गोत्र भी हैं। साथ ही, वह वंश महापुरुषोंके जन्म लेने योग्य है। भिक्षुक-ब्राह्मण वंश नीच गोत्र-सम्पन्न है और अर्हंतादि महापुरुषोंके जन्म लेने योग्य नहीं है। यहां ये प्रश्न स्वाभाविक ही उत्पन्न होते हैं कि, ज्ञातवंशको उच्चगोत्र सम्पन्न और ब्राह्मणवंशको नीचगोत्रसम्पन्न क्यों माना ? क्या इसमें श्रमण-ब्राह्मण-संघर्षकी झलक नहीं मालूम होती ? और ज्ञातवंश का भविष्य क्या

इसी संघर्ष के कारण अन्धकारमय नहीं हुआ? इन प्रश्नोंका उत्तर नीचेकी पंक्तियोंमें यथाशक्य और यथास्थान दिया जायगा।

ज्ञातवंश का मूल

अन्वेषण करने पर 'ज्ञाताधर्मकथा' आदि जैन आगमोंमें 'ज्ञातकुमारों' के दीक्षित होनेके संबंधमें संक्षिप्त नाममात्र देखनेको मिलता है। जैनेतर साहित्यमें–महाभारत ग्रंथमें–इस वंशकी उत्पत्तिकी रूपरेखा कुछ स्पष्ट रूपसे दिखाई देती है, जब कि यदुकुलतिलक महाराजा कृष्ण वासुदेव नारद महामुनिसे राज्यशासन-पद्धतिका परामर्श करते हुए कहते हैं:—

दास्यमैश्वर्यबादेन ज्ञातीनां वै करोम्यहम्।
अथ भोक्तास्मि भोगानां, वाग्दुरुक्तानि च क्षमे ॥५॥

× × × ×

बलं संकर्षणे नित्यं, सौकुमार्यं पुनर्गदे।
रूपेण मत्त: प्रद्युम्न: सोऽसहायोऽस्मि नारद ॥
अन्ये हि सुमहाभागा, बलवन्तो दुरासदा:।
नित्योत्थानेन संपन्ना, नारदान्धकवृष्णय: ॥
यस्य न स्युर्नहि स स्याद्, यस्य स्यु: कृत्स्नमेव तत्।
द्वयोरेनं प्रचरतो, वृणोम्येकतरं न च ॥
स्यातां यस्याहुकाक्रूरौ, किं नु दु:खतरं तत:।
यस्य चापि न तौ स्यातां, किं नु दु:खतरं तत: ॥
सोऽहं कितवमातेव द्वयोरपि महामुने।
नैकस्य जयमाशंसे, द्वितीयस्य पराजयं ॥
ममैवं क्लिश्यमानस्य, नारदोभयदर्शनात्।
वक्तुमर्हसि यच्छ्रेयो, ज्ञातीनामात्मनस्तथा ॥

अर्थात्—हे नारद, मैं ऐश्वर्य पाकर भी ज्ञातियोंका दासत्व ही करता हूं, यद्यपि मैं अच्छे वैभव या शासनाधिकारको भोग करता हूँ तो भी मुझे उनके कठोर शब्द सुनने ही पड़ते हैं। यद्यपि संकर्षणमें बल और गदमें सुकुमारता—राजसी ठाठ—प्रसिद्ध ही है और प्रद्युम्नकुमार अपने रूपसे मस्त है, फिर भी हे नारद, मैं असहाय हूँ। दूसरे अंधक वृष्णि लोग वास्तवमें महाभाग, बलवान और पराक्रमी हैं। हे नारद, वे लोग राजनैतिक बलसे संपन्न रहते हैं। वे जिसके पक्षमें होजाते हैं उसका काम सिद्ध हो जाता है, और जिसके पक्षमें वे नहीं रहते उसका अस्तित्व नहीं रहता। यदि आहुक और अक्रूर किसीके पक्षमें हों तो उसका कौन काम दुष्कर है? और यदि वे विपक्षमें हों तो उससे अधिक विपत्ति ही क्या हो सकती है। इसलिये दोनों दलोंमेंसे मैं निर्वाचन नहीं करसकता। हे महामुने, इन दोनों दलोंमें मेरी हालत उन दो जुआरियोंकी माताके समान हैं, जो अपने दोनों लड़कोंमेंसे किसी एक लड़केके जीतने की या हारनेकी भी आकांक्षा नहीं कर सकती। तो हे नारद, तुम मेरी अवस्था और ज्ञातियोंकी अवस्था पर विचार करो। कृपया मुझे कोई ऐसा उपाय बताओ कि जो दोनोंके लिये श्रेयस्कर हो। मैं बहुत दु:खी हो रहा हूँ।

नारद उवाच

आपत्यो: द्विविधा: कृष्ण, बाह्याश्चाभ्यंतराश्च ह।
प्रादुर्भवन्ति वार्ष्णेय, स्वकृता यदिवान्यत: ॥
सेयमाभ्यन्तरा तुभ्यं, कृच्छ्रा स्वकर्मजा।
अक्रूर-भोज-प्रभवा: सर्वे ह्येते तदन्वया: ॥
अर्थहेतोर्हि कामाद्वा, बीभत्सयापि वा।
आत्मना प्राप्तमैश्वर्यमन्यत्र प्रतिपादितम् ॥
कृतमूलमिदानं तद्, ज्ञातिशब्दसहायवत्।
न शक्यं पुरा दातुं, वान्तमन्नमिव स्वयम् ॥
बभ्रूग्रसेनतो राज्यं, नाप्तुं शक्यं कथंचन।
ज्ञाति-भेद-भयात्कृष्ण, त्वया चापि विशेषत: ॥

नारदजीने कहा—कि 'हे कृष्ण, गणतंत्रमें दो प्रकारकी आपत्तियां रहती हैं। एक बाह्य दूसरी आभ्यंतर। जिनकी उत्पत्ति बाहरी दुश्मनोंसे होती है वे बाह्य कहलाती हैं और जो अन्दरसे अपने ही

साथियोंके—सदस्योंके—आपसी विरोधसे होती हैं वे अभ्यंतर मानी जाती हैं। यहां जो आपत्ति है. वह आभ्यंतर है। वह सदस्योंके अपने कर्मोंसे उत्पन्न हुई हैं। अक्रूर—भोजादि और उनके सब संबंधियों ने धनके लोभसे, किसी कामनासे अथवा बीरता की ईर्ष्यासे, स्वयं प्राप्त ऐश्वर्यको दूसरोंके हाथों सौंप दिया है। जिस अधिकारने जड़ पकड़ ली है और जो ज्ञाति शब्द की सहायता से और भी दृढ़ हो गया है, उसे वमन किये हुए अन्नकी भाँति वापिस नहीं ले सकते। बभ्रू उग्रसेनसे राज्याधिकार पाना किसी भी तरहसे शक्य नहीं है। ज्ञाति भेदके भयसे हे कृष्ण, तुम भी विशेष सहायता नहीं कर सकते। यदि उग्रसेनको अधिकारच्युत करनेके समान दुष्कर कार्यकी भी सिद्धि करलीजाय तो महाक्षय, व्यय और विनाश तक हो जानेकी संभावना है। इस जटिल समस्याको तुम लोहेके शस्त्रोंसे नहीं बल्कि कोमल शस्त्रोंसे निर्विरोध सुलझा सकोगे। कृष्णजीने पूछा, कि इन मृदु अलोह शस्त्रों को मैं कैसे जान सकूं? तब नारद जी ने जवाबमें कहाः—

ज्ञातीनां वक्तुकामानां, कटुकानि लघूनि च ।
गिरा त्वं हृदयं वाचं, शमयस्व मनांसि च ॥

\+ \+ \+

भेदाद् विनाशः संघस्य, संघमुख्योऽसि केशव ।
यथा त्वां प्राप्य नोत्सीदे, देव संघे तथा कुरु ॥

\+ \+ \+

धनं यशश्च ह्यायुष्यं, स्वपक्षोद्भावनं तथा ।
ज्ञातीनामविनाशः स्याद्यथा कृष्ण तथा कुरु ॥
आयत्यां च तदात्वे च, न तेऽस्त्यविदितं प्रभो ।
षाडगुण्यस्य विधानेन, यात्रायां न विधौ तथा ॥
यादवा कुकुरा भोजाः सर्वे चान्धकवृष्णयः ।
तवायत्ता महाबाहो, लोकालोकेश्वराश्च ये ॥

अर्थात्—कड़वी और ओछी बातें कहने की इच्छावाले ज्ञातियोंकी वाणीसे अपने हृदय और वाणीको शांत रखो। साथ ही अपने उत्तरसे उनके मनको प्रसन्न रक्खो। केवल भेदनीतिसे संघका नाश होता है। हे केशव, तुम संघके मुखिया हो। अथवा संघने तुमको प्रधानरूप से चुना है। इस लिये तुम ऐसा काम करो, कि जिससे ज्ञातियोंका धन, यश, आयुष्य, स्वपक्षपुष्टि एवं अभिवृद्धि होती रहे। हे राजेन्द्र, भविष्य-संबन्धी नीतिमें, वर्तमान-कालीन नीतिमें एवं शत्रुत्राकी नीतिसे आक्रमण करनेकी कलासे और दूसरे राज्योंके साथ यथोचित वर्ताव करनेकी विधिमें एक भी बात ऐसी नहीं है, जो तुम्हे मालूम न हो। हे महाबाहो, समस्त यादव, कुकुर, भोज, अंधकवृष्णि, उनके सब लोग और लोकेश्वर अपनी उन्नति एवं संपन्नता के लिए तुम्हीं पर निर्भर है। *

महाभारतके कथनका सारांश

महाभारतमें उपलब्ध हुए उक्त प्रमाणका सारांश यह है, कि, यदुवंशके दो कुलों—अंधक और वृष्णि—ने एक राजनैतिक संघ स्थापित किया था। उसमें दो दल थे, जिनमेंसे एककी तरफ श्रीकृष्ण और दूसरे की तरफ उग्रसेनजी थे। श्री कृष्ण के दलवाले लोग बलवान, बुद्धिमान होते हुए भी प्रमादी और ईर्ष्यालुप्रकृतिके थे। अतः दूसरे दलके मुकाबिलेमें वाद-विवादके समय श्रीकृष्णको अधिक परेशानी होती थी। इसी परेशानीको मिटानेके उपायके लिए श्रीकृष्ण जी ने नारद जीसे परामर्श किया था।

*महाभारतके संदर्भके उपरिलिखित उद्धरण श्रीयुत् काशीप्रसाद जायसवाल कृत 'हिंदू राज्यतंत्र' से लिये गये है।

श्रीकृष्ण प्रजातंत्रवादी थे

यह बात महाभारतसे ही सिद्ध है कि, श्रीकृष्ण प्रजातंत्रवादी थे। और उनके विरोधी दुर्योधन, जरासंध, कंस, शिशुपाल आदि शासक राजालोग साम्राज्यवादी सिद्धांतके पक्षपाती थे। इसीलिए उनका श्रीकृष्णके साथ हमेशा विरोध रहता था। विरोधियोंसे संघर्ष सफलतापूर्वक कर सकनेके लिए एवं समाजकी सुख-शांतिके स्थायित्वके लिये श्रीकृष्णने एक संघ स्थापित किया था। संघके सदस्य आपसमें संबंधी होते हैं। उनमें परस्पर ज्ञातिका-सा संबन्ध होता है। इसलिए उस संघका नाम "ज्ञाति संघ" प्रसिद्ध हुआ। कोई भी राजकुल या जाति ज्ञातिसंघमें शामिल होसकती थी। वह संघ व्यक्तिप्रधान नहीं होता था। अतः उसमें शामिल होते ही सदस्योंकी जाति या वंशके पूर्व नामोंकी कोई विशेषता नहीं रहती थी। सब सदस्य जातिके नामसे पहचाने जाते थे। समयके प्रभाव से उनमें भी कई एक राजवंशके लोग साम्राज्यवादी विचारोंके होगये, और 'सम्राट' या 'राजा' उपाधिको धारण करने लगे। तब दूसरे प्रजातंत्रवादी ज्ञातिकेलोग 'राजन्य' कहलाने लगे। ज्ञातिके विधान, नियम और शासनप्रणालीमें विश्वास रखने वाले लोग आगे चलकर 'ज्ञाति' उपाधि वाले हुए।

'ज्ञांश् अवबोधने' इस धातु से यदि 'ज्ञात' शब्दकी उत्पत्ति मानी जाय तो इसका सीधा अर्थ प्रसिद्धताका सूचक है। कहीं कहीं 'ज्ञातृ' शब्द देखनेमें आता है, वह 'जानकार' अर्थका सूचक है। सभी अर्थ यथासंभव समुचित प्रयुक्त किये जासकते हैं।

साम्राज्यवादी संघ

जब श्रीकृष्णजीका संघ अपने एक राजनैतिक सिद्धांतके आधार पर अपना प्रभाव बढ़ाने लगा, तो दूसरा साम्राज्यवादी संघ अपना आतंक जमानेके लिये प्रजाको पीड़ित करने लगा। प्रजातंत्री सिद्धांतोंसे ज्ञातिसंघने पीड़ित प्रजाकी रक्षा की, पीड़ितोंकी रक्षा करनेसे उसका क्षत्रियत्व स्वयं सिद्ध होगया। इसीलिये कल्पसूत्रमें "नायाणं खत्तियाणं" पद पड़ा हुआ उचित ही प्रतीत होता है। श्रीकृष्णके जमानेसे ही क्षत्रियोंके ज्ञातिसंघकी नींव पड़ी, जो आगे चलकर ज्ञातिसंघके रूप में परिणत होगई।

ज्ञातवंश के गोत्र

ज्ञातवंशमें काश्यप वाहिक आदि कई गोत्र मौजूद थे। यह बात हमें भगवान महावीर के पिता सिद्धार्थ क्षत्रियके परिचयसे जाननेको मिलती है। जैसे कि–"नायाणं खत्तियाणं सिद्धत्थस्स खत्तियस्स कासवगुत्तस्य।" यहाँ यदि कोई ऐसी शंका करे कि "नायाणं" इत्यादिका 'प्रसिद्ध क्षत्रियोंमें काश्यप गोत्रवाला सिद्धार्थ क्षत्रिय' ऐसा अर्थ किया जाय तो नाय-ज्ञात का अर्थ विशेष्य नहीं रहता, विशेषण होता है। तो फिर ज्ञातवंश कैसे सिद्ध होगा? इसका उत्तर यह है, कि नाय-ज्ञात विशेषण नाम नहीं बल्कि विशेष्य नाम है। इसीलिये तो भगवान महावीरके लिए जैनसूत्रोंमें 'नायपुत्त' प्रयोग मिलता है। यदि 'नाय' शब्द प्रसिद्ध अर्थका ही द्योतक माना जाय तो 'नायपुत्त' का अर्थ 'प्रसिद्धपुत्र' ही होगा, जो प्रसंगमें असंगत है।

भगवान महावीरका ज्ञातवंश

भ० महावीरका ज्ञातवंश महाभारत के प्रजा-

तंत्रवादी ज्ञातसंघ से भिन्न नहीं है, क्योंकि ज्ञाति संघके जो सिद्धांत महाभारतके उपर्युक्त श्लोकों में देखने को मिलते हैं, वे ही सिद्धांत ज्ञातवंशी भगवान महावीरके सांसारिक एवं त्यागीजीवनमें देखनेको मिलते हैं। जैसे कि एकेश्वरवाद, ईश्वरकर्तृत्ववाद, स्त्री-शूद्रके मोक्ष के लिये अनधिकारित्ववाद आदि वादों का भगवान ने प्रतिवाद किया है। साथ ही, विरोधियोंके विचारोंको भी विवेक-पूर्वक अपनाने की सहिष्णुताको रखने वाले स्याद्वाद का, कर्मप्रधानवादका, किसी को कष्ट न देनेके रूप में अहिंसावाद का और इसी प्रकार के और भी अनेक सुन्दर वादों का सुचारु रूप से प्रतिपादन तथा व्यवहार उनके जीवन में ओतप्रोत मिलता है। ये बातें ऐसी हैं, जो सारे संसार की प्रजामें अशान्तिको मिटानेवाली और शान्तिको देनेवाली हैं।

हमारे जीवन-संस्कार भी हमें अपने पूर्वजोंकी एक प्रकारकी बहुमूल्य देनगियां है। भगवानका पुण्य जीवन-कल्पतरु ज्ञातवंशकी दिव्य भूमिको बहुत कुछ श्रेय-भागी बनाता है। भगवानके अवतीर्ण होने पर हिरण्यसे, सुवर्णसे, धनसे, धान्यसे, राज्यसे, साम्राज्य-संपत्ति से, और भी अनेक प्रकार से बढ़नेवाला वह ज्ञातवंश आज कहां है? किस रूपमें है? यह पुरातत्वके अभ्यासियोंके लिए परम अन्वेषणीय विषय है।

ज्ञात का जाट

रूपान्तर परिस्थितिको देखते हुए करीब दो हजार वर्ष हुए, 'ज्ञात' का 'जाट' हो गया प्रतीत होता है। क्योंकि दो हजार वर्ष पूर्वकी प्राकृत भाषाके जो कि सर्वसाधारणकी बोलचालकी भाषा थी—प्रयोगों में संस्कृतके 'ज्ञ' का 'ज' एवं 'त' का 'ट' उच्चारण हुआ मिलता है। न्याय-व्याकरण-तीर्थ पंडित वेचरदासजी ने कई प्राचीन प्राकृत व्याकरणोंके आधार पर जो नया 'प्राकृत व्याकरण' बनाया है, उसमें नियम लिखा है कि—

"संस्कृत 'ज्ञ' का 'ज' प्राकृत में विकल्प से होता है, और यदि वह 'ज्ञ' पदके मध्यमें हो तो उसका 'ज्ज' होता है, जैसे कि संजा–संज्ञा–सण्णा।" पृष्ठ ४१

ऊपर लिखे नियम से 'ज्ञात' के 'ज्ञा' का 'जा' होना स्वाभाविक ही नहीं नियमानुकूल भी है।

सम्राट् अशोककी धर्मलिपि

प्राचीन शिलालेखोंमें सम्राट् अशोककी जो धर्मलिपियां अंकित हैं, उनमें तकार का और संयुक्त तकारका टकार हुआ मिलता है, और जैनागमोंकी भाषा में उस स्थानपर प्राकृत प्रक्रिया के अनुसार तकार का डकार हुआ और संयुक्त त्तकारका 'त्त' ही हुआ मिलता है:—

अशोकलिपि	आगमभाषा	संस्कृत
पाटिवेदना	पडिवेअणा	प्रतिवेदना
पटिपाति	पडिवत्ति	प्रतिपाति
कट	कड, कय	कृत
मट	मड, मय	मृत
कटव, कटविय	कायव्व	कर्तव्य
किति, किटि	कित्ति	कीर्त्ति

—प्रा० का० पृ० ३८

अशोकलिपि के इन उदाहरणों से 'ज्ञात' शब्दमें पड़े हुए तकार का टकार होना भी प्रमाणित होता है। इस हालत में यह बात भली प्रकार मानी व जानी जा सकती है कि अशोक के जमाने में 'ज्ञात' शब्द का रूपान्तर 'जाट' बन गया हो तो कोई ताज्जुब नहीं।

रूपान्तर होना परिस्थितिके अनुकूल

बौद्ध आचार्यों की सत्संगति से किसी खास कारणवश सम्राट् अशोक बौद्ध धर्मावलम्बी हो गया था। उसने बौद्ध धर्म का भारत में काफी प्रचार किया था। धर्मकी आज्ञाओंको शिला पर अंकित करवाकर उन्हें अपने देशमें सर्वत्र प्रचारित किया था। "यथाराजा तथा प्रजा" के न्यायसे अन्यान्य लोगोंके साथ ज्ञातवंशके कई लोगोंका बौद्ध धर्मावलम्बी होजाना भी सम्भावित है। उस समय संस्कृत शब्द 'ज्ञात' का 'जाट' प्राकृत हो जाना भी परिस्थिति के अनुकूल ही प्रतीत होता है।

रूपान्तर हो जाने पर भी अर्थभेद नहीं

ज्ञात शब्द का जो भावार्थ था, वह 'जाट' शब्दमें वैसे ही ज्यों का त्यों सन्निहित है,जैसे 'ज्ञात' शब्द का भावार्थ उसके रूपान्तर 'जाति' शब्द में। ऊपर की पंक्तियों में यद्यपि संस्कृत 'ज्ञात' का अपभ्रंश 'जाट' साबित किया गया है, पर वह संस्कृत के दायरे में भी अपनी हस्ती पूर्ववत बनाये रखता है, जैसे कि—

संघातवाच्ये जटधातुतोऽसौ,
घञ्प्रत्ययेनाधिकृतार्थकेन।
सिद्धोऽनुरूपार्थकजाटशब्दो
ऽपभ्रंशितो निर्दिशति स्ववृत्तम्॥

अर्थात्—संघातवाची 'जट' धातु से घञ् प्रत्यय आने पर 'ज्ञात' शब्द के अधिकृत अर्थ में 'जाट' शब्द समर्थक सिद्ध हुआ। अपभ्रंश हो जाने पर भी वह अपने पूर्व चरित को—ज्ञात शब्द के मूलस्वरूप को—बताता ही है।

संस्कृत साहित्य के प्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनीय के धातुपाठमें 'जट' धातुको देखकर भी अनुमान होता है कि उस समय 'ज्ञात' का अपभ्रंश 'जाट' रूपसे लोकमें पूर्णतया प्रचलित होगया होगा। और अपने पूर्व भावों की—प्रजातन्त्रीय संगठन के भावोंकी-भी रक्षा कर रहा होगा। इस हालत में 'जाट' शब्दको संस्कृत साहित्य वाले कैसे छोड़ देते? 'जाट' शब्दकी प्रकृति भावानुकूल उन्हें निर्माण करनी ही पड़ी, जो 'जट' धातुके रूपमें आज भी हमारे सामने मौजूद है।

विशेष इतिहास

'ज्ञात' और 'जाट'की एकरूपता जाननेके बाद उसके विशेष इतिहासको देखते हैं, तो काश्यप आदि गोत्र ज्ञात-जाट वंशमें समान रूपसे मिलते हैं। भगवान महावीरके पिता ज्ञात वंशके काश्यप-गोत्रीय थे*, तो जाट वंशमें भी काश्यप-गोत्र आज भी मौजूद है। "ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स आफ दि नार्थ वेस्टर्न प्रॉविंसेज ऑफ़ आगरा एण्ड अवध" नामक ऐतिहासिक ग्रंथमें मिस्टर डब्ल्यू कुर्क साहिब लिखते हैं, कि 'दक्षिणी-पूर्वी प्रान्तों के जाट अपनेको दो भागोंमें विभक्त करते हैं—शिवि-गोत्रीय और काश्यप-गोत्रीय।

'वाहिक कुल' भी, जोकि पूर्वकालमें भगवान महावीरके परमभक्त महाराजा श्रेणिकका था, आज जाट-वंशमें एक जातिके रूपमें मौजूद है। इसके प्रमाणके लिए शब्दचिंतामणि नामक प्रसिद्ध कोश का ११६३ वां पृष्ठ देखने काबिल है। महाराजा श्रेणिकने वैशालीके महाराजा चेटक से उनकी कन्या सुज्येष्ठाकी मँगनीकी थी, उसका

* समणस्स णं भगवओ महावीरस्स पिआ कासवगुत्तेणं ·····सिद्धत्थे··················।

वर्णन हारिभद्रीय आवश्यक-वृत्ति पृष्ठ ६७७ में आता है। उसका उदाहरण इस प्रकार है:—

दूओ विसज्जिओ वरगो, तं भणइ चेडगो-किह हं वाहियकुले देमित्ति पडिसिद्धो।

अर्थात्—महाराजा चेटकने अपनी कन्या सुज्येष्ठाकी मंगनी करनेवाले महाराजा श्रेणिकके दूतको कहा कि, क्या मैं वाहिककुलमें अपनी कन्याको दूँगा? ना! ना!! ऐसा प्रतिषेध करके दूतको विसर्जित कर दिया*।

त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्रके रचयिता कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्रजी महाराज भी ऊपर लिखी बातको इस प्रकार लिखते हैं—

चेटकोऽप्यब्रीदेवमनात्मज्ञस्तव प्रभु:।
वाहीक-कुलजो वांछन्, कन्यां हैहयवंशजाम्॥

—त्रि० श० च० पर्व १०, सर्ग ६, पृ० ७८।

अर्थात्-चेटक इस प्रकार बोले कि तेरा राजा अपना स्वरूप भी नहीं जानता है, जो वाहीक कुल में पैदा होकर हैहयवंश की कन्याको चाहता है। अस्तु।

एक कपोल-कल्पना

महाराजा श्रेणिक भगवान महावीरदेवके परम भक्तोमें से एक थे। आपका जैन होना ब्राह्मणों को बड़ा अखरता था। इसलिये ब्राह्मणों ने उनके वाहीक कुलके संबन्धमें एक कपोल कल्पना महाभारत† कर्णपर्व ८ में निम्न प्रकार जोड़ दी हैं—

वाहिश्च नाम हीकश्च विपाशायां पिशाचकौ।
तयोरपत्यं वाहीका, नैषा सृष्टिः प्रजापतेः॥

अर्थात्—विपाशा पंजाबकी व्यास नदी के किनारे पर 'वाहि' और 'हीक' नामके दो पिशाच रहते थे। उनकी संतान वाहीक कहलाई। उनकी सृष्टि प्रजापति ब्रह्मा से नहीं हुई।

श्रमण-ब्राह्मण-संघर्ष

साम्प्रदायिक असहिष्णुता मनुष्यकी बुद्धि पर परदा डाल देती है। भगवान महावीर और महात्मा गौतमबुद्धकी धार्मिक क्रांतिने प्रचलित ब्राह्मणसमाजके गुरूडमवादकी हंबग बातोंको निस्सार साबित कर दिया था। लोगोंकी चेतना उष:कालके सुनहरे प्रभातमें जागृत हो उठी थी।

*"क्या मैं अपनी कन्याको वाहीक कुलमें दूँ? ना" चेटक महाराजाके ये शब्द क्या वाहीक कुलकी निम्नता नहीं जाहिर करते? यह प्रश्न होना स्वाभाविक है। इसके उत्तरमें इतना ही लिखना काफ़ी होगा कि रुक्मिणी-हरणके समय श्रीकृष्णके लिए रुक्मी-कुमार का यह कहना कि "मेरी बहन ग्वालेको नहीं ब्याही जा सकती," इस वाक्यके भाव पर पाठक विचारें रुक्मी शिशुपालका साथी था। उसकी इच्छा थी कि रुक्मिणीका विवाह शिशुपालसे हो। श्रीकृष्ण शिशुपालके विरोधी थे। राजाओंका नियम है कि, मित्रका मित्र उनका भी मित्र होता है और मित्रका शत्रु उनका भी शत्रु होता है। इसी शत्रुतासे प्रेरित होकर रुक्मीने ऐसा कहा था। इससे श्रीकृष्णका उच्चत्व-नीचत्व सिद्ध नहीं होता। ठीक ऐसी ही बात श्रेणिकके कुलके लिए महाराजा चेटककी है। चेटक प्रधान जैन था, और श्रेणिक कट्टर तब बौद्ध धर्मावलम्बी था। यह नियम-सा है कि, एक संप्रदाय वाला दूसरे संप्रदाय वालेको नीची दृष्टिसे देखता है और अपने भाव जाति, कुल, वंश, देश, स्वभाव आदिकी ओटमें किसी न किसी तरहसे व्यक्त कर ही देता है। चेटकके वचनोंमें भी यही भाव निहित हैं, जो कि जबरन ब्याहके बाद श्रेणिकके जैन हो जाने पर मिटे दिखाई देते हैं। अधिक क्या एक कुलका ब्राह्मण दूसरे कुलके ब्राह्मणों को आज भी तो हीन समझता है। इसलिए चेटकका कथन वाहीक कुलकी निम्नता नहीं साबित करता।

†महाभारत जिसे, कि हम आज देखते हैं, यह तीन बार में और कम से कम तीन आदमियों-द्वारा बना है। आरम्भ में पांडवों के समकालीन श्रीव्यासजी द्वारा जो ग्रन्थ बना वह 'जय' नाम से प्रसिद्ध था, जिसमें केवल पांडवोंका हिमालयकी ओर जाने तक का ज़िक्र था। दूसरी बार श्री वैशंपायन ने उसमें राजा जनमेजय तक की घटनाओं का संग्रह कर दिया और उसका नाम 'भारत' कर दिया। आगे जैन-बौद्ध-काल में सूतपुत्र सौनिक ने काफी वृद्धि की और उसमें प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से बौद्ध-जैन-आदि धर्मों की और उनके अनुयायियों की काफी बुराई की और गिराने की चेष्टा की। यह बात महाभारत-मीमांसा में पाठक देख सकते हैं।

यह बात ब्राह्मणोंके लिये असह्य थी। उन्होंने उनकी तर्क-संगत-युक्तियोंसे निर्वाक् होकर जैन व बौद्ध धर्मके प्रवर्तकोंको नास्तिक, उनके अनुयायियोंको पिशाचोंकी संतान, और उनकी तीर्थ-भूमियोंको अनार्यभूमि आदि आदि उपाधियोंसे विभूषित (?) कर दिया था। उस समय श्रमण-ब्राह्मण संघर्ष अपनी पराकाष्ठाको पहुँच चुका था।

श्रमण-ब्राह्मण संघर्षकी तत्कालीन परिस्थितिको देखते हुए कई लोग अनुमान कर बैठते हैं, कि, जहां ब्राह्मणोंने जैन-बौद्धोंको अनार्य, पिशाच, नास्तिक आदि बताया, वहां श्रमण-सम्प्रदाय वालोंने उन्हें "ब्राह्मणाः धिग्जातयः" कहना-लिखना शुरू कर दिया। जिसकी छाया भगवान महावीरके गर्भ-परिवर्तनकी* घटनामें स्पष्टरूपसे झलक रही है। जिस ब्राह्मण-जातिके इन्द्रभूति आदि गणधरोंको जाति-सम्पन्न और कुल-सम्पन्न जैन आगमों में बताया गया है, उन्हींमें भगवान महावीरके प्रसंगमें ब्राह्मणों को धिग्जाति—नीची जाति वाले बताना एक समस्या है।

जैनधर्म और बौद्धधर्मके साथ ब्राह्मणोंका विरोध पहिले तो सिद्धांत-भेदसे हुआ था, पर वह फिर जातिगत हो गया। इसलिये उन धर्मोंके अनुयायी क्षत्रिय वर्णको क्षत्रिय माननेसे ही ब्राह्मणोंने इनकार कर दिया। स्मृतियोंमें लिख दिया, कि "कलौ सन्ति न क्षत्रियाः"—कलियुगमें क्षत्रिय होते ही नहीं। ब्राह्मणोंने, अपने इस प्रचार से यथावांछित परिणाम न निकलते देख, एक चाल और चली। साम्राज्यवादी विचारोंवाले चहुआण, पडिहार, सोलंकी आदि उत्तरी भारतके कई क्षत्रियोंको आबू पर्वत पर यज्ञ समारोहमें निमन्त्रित किया‡। उनमें कई ज्ञातवंशी भी शामिल हुये थे उन सबको ब्रह्मणोंने, उन पर अपनी भेद नीति चलाते हुए, अग्निकुली विशेषण देकर एक नये कुलकी स्थापना करदी। और इस समारोहमें जिन क्षत्रियोंने उनका साथ न दिया उनसे उनका विरोध करा दिया। इसका फल यह हुआ कि, अग्निकुली, ब्रह्मकुली आदि क्षत्रिय 'राजपूत' जैसे चमत्कारिक नामको धारण कर अपने ही वंशके भाइयोंसे घृणा करने लगे। उस घृणाका शिकार कई ज्ञात वा जाटवंश वालोंको भी होना पड़ा।

---

* मथुराके प्रसिद्ध ऐतिहासिक कङ्काली टीलेसे प्राप्त योगपट्टोंमें भगवान महावीरकी गर्भ-परिवर्तनकी घटनासे अंकित एक यागपट्ट मिला है। यह आजकल लखनऊ म्यूज़ियममें मौजूद है। उसकी रचना ऐतिहासिक लोग दोहज़ार वर्ष पूर्वकी बताते हैं।

‡ पं० विश्वेश्वरनाथ रेऊने अपने 'भारतके प्राचीन राजवंश' नामक ऐतिहासिक ग्रन्थमें इस घटना पर अच्छा प्रकाश डाला है और वह 'परमारवंशकी उत्पत्ति' के रूप में इस प्रकार है:—

"परमारवंश की उत्पत्ति"

राजा शिवप्रसाद (सितारेहिन्द) अपने 'इतिहास-तिमिर-नाशक' के प्रथम भागमें लिखते हैं कि 'जब विधर्मियोंका अत्याचार बहुत बढ़गया तब ब्राह्मणोंने अर्बुदगिरि (आबू) पर यज्ञ किया और मन्त्रबल से अग्निकुण्ड में से क्षत्रियोंके चार नये वंश उत्पन्न किये—परमार, सोलंकी, चौहान और पडिहार।' अबुल फ़ज़लने अपनी आईने अकबरी में लिखा है कि 'जब नास्तिकोंका उपद्रव बहुत बढ़ गया तब आबू पहाड़ पर ब्राह्मणोंने अपने अग्निकुण्डसे परमार, सोलंकी, चौहान, और पडिहार नामके चार वंश उत्पन्न किये।' पद्मगुप्त ने अपने नवसाहसांकचरित्रके ग्यारहवें सर्गमें परमारोंकी उत्पत्ति का वर्णन इस प्रकार किया है:—

धर्मविद्वेषकी प्रधानतासे जैन बौद्धकालके बाद ब्राह्मणोंने और उनके अनुयायियोंने 'जाट क्षत्रिय नहीं हैं,' यह कहना प्रारम्भ करदिया। वरना क्या कारण है कि राजपूत परमारोंको तो क्षत्रिय रूपसे और जाट परमारोंको क्षत्रियेतर रूपसे माना जाय? इस धार्मिक विद्वेषने न केवल जाटोंको ही अपमानित किया बल्कि उनके जैसे कई विशुद्ध क्षत्रियवन्शोंको भी नहीं छोड़ा। इसीसे तो विदेशी आक्रामकोंने पुण्यभूमि भारतको पराधीन बनाकर उसे दासताकी जंजीरोंसे जकड़ दिया।

जाटोंका व्यवहारादि

प्रायः स्वतन्त्र विचारके होनेसे जाट लोगोंने जैसे ब्राह्मणोंको गुरु माननेका विरोध किया ठीक वैसे ही अपने बाप दादोंकी कीर्ति गानेवाले भाट-चारणोंको भी प्रोत्साहन नहीं दिया। अपनी वीरताके प्रचण्ड कारनामोंको भी उन्होंने लेखबद्ध नहीं किया। उनमेंसे जो साम्राज्यवादी होगये, जिनका प्रभुत्व संसारव्यापी होगया, श्रेणिक, कोणिक, संप्रति, समुद्रगुप्त आदि जाटवन्शीराजाओंको इतिहास-लेखकोंने 'राजपूत' बना दिया। ब्राह्मणोंकी भेदनीतिसे आपसी विद्वेष पैदा होगया। समयप्रवाहने भी कुछ साथ न दिया। इन सब कारणोंसे जाट स्वयं भी आत्म-सम्मान भूलने लगे।

कर्नल टॉड जैसे अनुभवी लेखकको इसीलिये अपने टॉडराजस्थानमें लिखना पड़ा कि—

"जिन जाट वीरोंके पराक्रमसे एक समय समस्त संसार कांप गया था, आज उनके वंशधरगण राजपूताना और पंजाबमें खेती करके अपना गुजर करते हैं × × × × अब इनको देखकर अनायास ही यह विश्वास नहीं होता कि, ये खेतिहर जाट उन्हीं प्रचण्ड वीरोंके वन्शधर हैं जिन्होंने एकदिन आधे एशिया और योरोपको हिला दिया था।

पर्शियन-हिस्ट्रीके लेखक जनरल कनिंघमने

हृतातस्यै कदाधेनुः कामसूर्गाधिसूनुना । कार्तवीर्यार्जुनेनैव जमदग्नेरनीयत ॥६५॥

× × × ×

अथाथर्व विदामाद्य, समंत्रामाहुतिं ददौ । विकसद् विकट ज्वाला, जटिले जातवेदसि ॥६७॥

ततः क्षणातसकोदण्डः, किरीटी कांचनाङ्गदः। उज्ज गामाग्नितः कोऽपि, सहेम कवचःपुमान् ॥६८॥

अर्थात्—इक्ष्वाकु वंशियोंके पुरोहित वशिष्ठ ऋषिकी कामधेनु गायको गाधिसुत विश्वामित्रने चुराया। तब अथर्ववेदके ज्ञाताओंमें प्रथम मुनि वशिष्ठने फैलती हुई विकट ज्वालाओंसे उत्पन्न भयंकर अग्निमें मंत्र सहित आहुतियां दीं। इससे झटपट धनुर्धारी, मुकुटवाला, स्वर्णाङ्गदवाला, एवं सोनेके कवचवाला कोई एक पुरुष अग्नि से पैदा हुआ।

परमार इति 'प्रापत्स मुनेर्नामचार्थवत् । मीलितान्य नृपच्छत्र, मातपत्रं च भूतले ॥७१॥

अर्थात्—उसने वशिष्ठके दुश्मनोंका नाश करडाला, अतः ऋषिने प्रसन्न हो 'परमार' ऐसा सार्थक नाम देदिया। यही बात पाटनारायण के मंदिरके १३४४ के शिला लेखमें आई है। वैसीही आबू परके अचलेश्वरके मंदिरमें लगे लेखपर भी अंकित है।

वशिष्ठ-विश्वामित्रकी लड़ाईका वर्णन बाल्मीकि रामायणमें भी है। परन्तु उसमें अग्निकुंडसे उत्पन्न होने के स्थान पर नंदिनी गोद्वारा मनुष्योंका उत्पन्न होंना और साथही उन मनुष्योंका शक, यवन, पल्हव आदि जातियोंके म्लेच्छ होना भी लिखा है धनपालने १०७० के करीब तिलकमंजरी बनाई थी उसमेंभी इनकी उत्पत्ति अग्निकुंड से ही लिखी है।

अनेक विद्वानोंका मत है कि, ये लोग ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्णकी मिश्रित संतान थे। अथवा ये विधर्मी थे और ब्राह्मणों द्वारा शुद्ध किये जाकर ये क्षत्रिय बनाये गये। तथा इसी कारणसे इनको 'ब्रह्मक्षत्रकुलीनः' लिख कर इनकी उत्पत्तिके लिए अग्निकुंडकी कथा बनाई गई।"

भारत के प्रा० रा० वंश प्र० भाग पृ० १७७-७८

अपनी पुस्तकमें यहांतक लिख दिया है, कि "जाट लोग एक ओर राजपूतोंके साथ और दूसरी ओर अफ़ग़ानोंके साथ मिलगये हैं। किन्तु यह छोटी छोटी जाट-जातिकी शाखा-सम्प्रदाय पूर्वीय अंचलके राजपूत और पश्चिमीय अंचलके अफ़ग़ान १-और बलूची के नाम से अभिहित हैं।"

जाटों की वर्तमान सत्ता

कर्नल टॉडके शब्दोंमें जहां ज्ञातों-जाटोंकी राजनैतिक हानि हुई वहां कनिंघमके शब्दोंमें उनकी सामाजिक जनसंख्याकी भी काफ़ी हानि हुई है। फिर भी ज्ञात-जाट वंशकी सत्ता आज भी भारतमें आदरकी दृष्टिसे देखी जाती है। भरतपुर, पटियाला, नाभा, धौलपुर, मुरसान, झींद, फ़रीदकोट आदि कई राजस्थानोंमें जाटवंशीय राजा, महाराजा ही राज्य करते हैं। वे लोग अपने आपको जाट कहलाने में ही अपना गौरव समझते हैं। पंजाब और यू०पी० में जाटोंकी इज्जत राजपूतोंसे भी बढ़ी चढ़ी है। पंजाब-केसरी महाराजा रणजीतसिंह इसी वंशका कोहेनूर था।

जाट हूणों आदिकी संतान नहीं

कई भ्रांत लेखकोंने जाटोंको हूणोंकी संतान और शक सिथियनोंकी संतान बना दिया है। पर बात पुरातत्वसे सर्वथा अप्रमाणित है। इस संबधमें महाराष्ट्रके सुप्रसिद्ध इतिहासकार श्री पी० सी० वैद्यने हिस्ट्री आव मीडीयावल हिन्दू इण्डियामें काफ़ी मीमांसा की है, और साबित किया है, कि जाट लोग हूणोंकी संतान नहीं, प्रत्युत हूणोंको जीतनेवाले थे।

"जाट गूजर और मराठा इन तीनों में (··· ······) जाटोंका वर्णन सबसे पुराना है। महाभारतके कर्णपर्वमें इनका वर्णन 'जटिल्का' नामसे मिलता है। उनका दूसरा वर्णन हमको "अजय जर्टो हूणान्" वाक्यमें मिलता है, जोकि पांचवीं सदीके चन्द्रके व्याकरणमें है, और यह प्रकट करता है कि, जाट हूणोंके संबन्धी ही नहीं किन्तु शत्रु थे। जाटोंने हूणोंका सामना किया और उनको परास्त किया, अतः वे पंजाबके निवासी ही होंगे और धावा करनेवाले तथा घुस पड़ने वाले नहीं। क्या उपर्युक्त वाक्य यह साबित करता है, कि मन्दसौरके शिलालेखवाला यशोधर्मन जिसने, कि हूणोंको लगातार परास्त किया था, जाट था? वह जाट होगा। क्योंकि यह मालूम होचुका है कि जाट मालवा-मध्यभारतमें सिन्धकी भांति पहुँच चुके थे।" (हिस्ट्री ऑफ मीडीयावल हिन्दूइण्डिया, पृ० ८७-८८)

इसी विषयमें 'जाट इतिहास' में पृष्ठ ५९ पर लिखा है:—

१—जैनसूत्रोंमें आनेवाली आर्द्रकुमारकी कथामें आर्द्रक देशके राजा का श्रेणिकके सभाके संबंध पर जनरल कनिंघमके ऊपर लिखे विचार क्या कुछ प्रकाश नहीं डालते? जरूर डालते हैं। आर्द्रकदेश वर्तमान्का 'एडन बंदर' अथवा इटलीके मुसोलिनी की फासिस्ट नीति का शिकार बने हुए अल्बानियाके पासके 'एड्रियाटिक' से हो सकता है। आद्रक राजा के पूर्वज भारतसे उधर गये हों और वहां राज्य कायम करके रहने लग गये हों। श्रेणिक के पूर्वजोंसे उनका कोई संबध हो और वह आपसमें बराबर आदान प्रदानके जरिये बना हुआ हो, इसका कोई ताज्जुब नहीं है। अनार्य देशमें रहनेसे आर्द्रक राजा आदि अनार्य माने गये हों यह भी होसकता है। कुछभी हो आर्द्रक राजा और श्रेणिक महाराजका प्रेम सकारण ही होगा। संभावित कारणोंमें पूर्वसंबंध भी एक कारण हो सकता है। सूयगडांग सूत्रके दूसरे श्रुतस्कंधके छठे आर्द्रकाध्ययनकी निर्युक्ति इस संबंधमें कुछ प्रकाश डालती है।

"जाट न हूणों की संतान हैं, और न शक सिथियनोंकी, किन्तु वे विशुद्ध आर्य हैं। ऊपरके उद्धरण से यह पूर्णतया सिद्ध होजाता है, किन्तु इससे भी अधिक गहरा उतरा जाय तो पता चलता है, कि बेचारे हूणों और शकोंके आक्रमणों का जबतक नाम-निशान तक न था, जाट उस समय भी भारतमें आबाद थे। पाणिनी जो ईसा से, प्रायः ८०० वर्ष पहिले हुआ है उसके व्याकरण (धातु पाठ) में 'जट' शब्द आता है, जिसके कि माने संघके होते हैं। पंजाबमें 'जाट' की अपेक्षा 'जट' अथवा 'जट्ट' शब्दका प्रयोग अबतक होता है। अरबी यात्री अलबरूनी तो यहाँ तक लिखता है कि 'श्रीकृष्ण' जाट थे। मि० ई० बी० हेवल लिखते हैं:—

"Ethonographia investigations show that the Indo-Aryan type described in the Hindu epic—a tall. fair complexioned, long headed race, with narrow prominent noses, broad shoulders, long arms, thin waists like lion and thin legs like deer is now (as it was in the earliest times) most confined to Kashmere, the Punjab and Rajputana and represented by the Kattris, Jats. and Rajpnts. (Page 32) The History of Aryan Rule in India by F. B. Havell.

अर्थात्—मानवतत्वविज्ञानकी खोज बतलाती है, कि भारतीय आर्यजाति जिसको कि हिन्दू-युद्धग्रन्थोंमें लम्बे क़द, सुन्दर चेहरा, पतली लम्बी नाक, चौड़े कन्धे, लम्बी भुजाएं, शेरकी सी कमर और हिरनकीसी पतली टांगोंवाली जाति बतलाया है, (जैसी कि यह प्राचीन समयमें थी) आधुनिक समयमें पंजाब, राजपूताना और काश्मीरमें खत्री, जाट और राजपूत जातियोंके नामसे पुकारी जाती है। (पृष्ठ ३२)

मिस्टर नेसफ़ील्ड साहबने यहाँतक जोर देकर लिखा है:—

"If appearance goes for anything the Jats could not but be Aryans."

"यदि सूरत शकल कुछ समझी जानेवाली चीज़ है, तो जाट सिवा आर्योंके कुछ और हो नहीं सकते।"

भाषाविज्ञानके अनुसार जातियोंके पहचानने-की जो तरकीब है, उसके अनुसार भी जाट आर्य हैं। इसके प्रमाणमें मिस्टर सरहेनरी एम० इलियट के० सी० बी० "डिस्ट्रीब्यूशन ऑफ दी रेसेज़ ऑफ दी नार्थ वेस्टर्न प्राविंसेज़ ऑफ इंडिया" में लिखते हैं:—

"बहुत समय हुआ मैंने करांचीसे पेशावर तक यात्रा करके स्वयम् अनुभव कर लिया है, कि जाट लोग कुछ खास परिस्थितियोंके सिवा अन्य शेष जातियोंसे अधिक पृथक् नहीं है। भाषासे जो कारण निकाला गया है वह जाटोंके शुद्ध आर्यवंश में होनेके ज़ोरदार पक्षमें हैं। यदि वे सिथियन-विजेता थे, तो उनकी सिथियन भाषा कहाँके लिए चली गई ? और ऐसा कैसे हो सकता है, कि वे अब आर्य भाषाको, जोकि हिन्दीकी एक शाखा

है, बोलते हैं, तथा शताब्दियोंसे बोलते चले आये हैं। पेशावरमें डेराजाट और सुलेमान पर्वतमालाके पार कच्छ गोंडवामें यह भाषा हिन्दकी या जाटकी भाषाके नामसे प्रसिद्ध है। जाटोंके आर्यवंशमें होनेके सिद्धांतको यदि कतई एक ओर फेंक दिया जावे तो इसके विरुद्ध बहुत ही ज़ोरदार प्रमाण दिये जावेंगे, जैसे कि अबतक कहीं नहीं दियेगये हैं। शारीरिक-गठन और भाषा ऐसी चीजें हैं, जोकि केवल क्रियात्मक समानताके आधार पर एकतरफ़ नहीं रक्खी जा सकतीं। ख़ासकर जब कि वे शब्द जिनपर कि समानता अवलम्बित है हमारे सामने आते हैं तो वे यूनानी या चीनियोंसे भिन्न पाये जाते है।"

मिस्टर च्यार्जीलेथमके एथोनोलोजी आफ़ इंडिया पृष्ठ २५४ के एक नोटसे जाट-राजपूतके संबंध पर इसतरह प्रकाश पड़ता है—"The Jat in blood is neither more nor less than a converted Rajput, and vice versa; a Rajput may be a Jat of the ancient faith."

अर्थात्—जाट रक्तमें परिवर्तन किये हुए राजपूतसे न तो अधिक ही है, और न कम ही है। किन्तु अदल बदल हैं। एक राजपूत प्राचीन धर्मका पालन करनेवाला एक जाट होसकता है।"

मिस्टर इबटसन जाट और राजपूतोंके संबंध में एक और दिलचस्प बात लिखते हैं:—

"But whether jats and Rajputs were or were not originally and whatever aboriginal elements may have been affiliated to their society, I think that the two now form common stock the distinction between Jat and Rajput being social rather than ethnic. I believe that the families of that common stock whom the tide of fortune has raised to practical importance have become Rajputs almost by more virtue of their rise, and that their descendents have retained the title and its previleges on the condition strictly enforced of observing the rules by which the higher are distinguished from the lower in the Hindu scale of precedence of preserving their purity of blood by refusing its marriage with the families of lower social rank of regidly abstaining from degrading occupation. Those who transgressed these rules have fallen from their higher position and ceased to be Rajputs; while such families as attaining a dominent position in their history began to affect social exclusiveness and to observe the rules have become not only Rajas, but Rajputs or sons of Rajas".

अर्थात्—किन्तु चाहे जाट और राजपूत पहिले भिन्न थे या नहीं, और चाहे कुछ भी प्राचीन

रस्मरिवाज उनकी सोसाइटीमें बर्ती जाने लगी, मेरे विचार से अब ये दोनों जातियां एक उभय-निष्ठ स्टॉक बनाती हैं। जाट और राजपूतोंकी मित्रता केवल रस्म रिवाजों को है नकि जातीयता की। मैं विश्वास करता हूँ कि इस मिश्रित स्टाकके वे खानदान जिनको भाग्यने राजनैतिक उन्नतिमें अग्रसर कर दिया, वे अपनी उन्नतावस्थाको प्राप्त होनेसे ही 'राजपूत' कहलाने लगे, और उनके वंशजोंने इस उपाधिको बड़ाईके साथ सीमित कर दिया और छोटी जातियोंने मित्रताका सूचक बना दिया। साथ ही अपने रक्तको शुद्ध कहकर निम्न-श्रेणीके लोगोंसे विवाह-संबन्ध करना बन्द कर-दिया। पुनर्विवाहकी मनाही करदी। जिन लोगोंने इन नियमोंको नहीं माना वे अपनी स्थितिसे गिर-गये और राजपूत कहे जानेसे वंचित रहे। ऐसे कुटुम्ब जिन्हें कि अपने राज्यमें ऊंचे दर्जे मिल गये उन्होंने उन सारे नियमोंका पालन शुरू कर-दिया। वे राजा ही नहीं राजपुत्र यानी राजाके बेटे बनगये।

मिस्टर इबटसन 'राजपूत' शब्द का अर्थ इस तरह से करते हैं:—

"Though to my mind the term Rajput is an occupational rather than ethological repression."

अर्थात्—मेरे मस्तिष्कमें यह बात आती है, कि राजपूत शब्द एक जातीयताका बोधक होने की बनिस्बत पेशेका बोधक है।"

उपसंहार

वर्तमानका जाटवंश जैन आगम-संमत ज्ञात-वंशको रूपान्तर है या कुछ और। इस विषय में आशा है कि विद्वान लोग अपने मन्तव्य जाहिर करेंगे। ज्ञातवंशमें जैसे जैनधर्मका प्रचार था ठीक वैसे ही कुछ वर्ष पहले तक जाटोंमें जैन धर्मकी उपासना रही है। अंचलगच्छकी पट्टावली में सूचित जाखडिया गच्छ क्या जाटोंकी बीका-नेरके प्रदेशमें बसी हुई जाखडिया जातिसे संबन्ध नहीं रखता होगा ? तथा गच्छके वर्तमान साधु समुदायके मुख्य नेता-गुरु श्रीमान् बृद्धिचन्द्र जी महाराज भी इस जाटवंशके कोहेनूर थे, यह नहीं भूलना चाहिये। इस सम्बन्धमें विद्वान लोग और अधिक प्रकाश डालनेकी सफल चेष्टा करेंगे, ऐसी आशा की जाती है। इतिशम्।

द्रव्य-मन

(लेखक पं० इन्दचन्द्र जैन शास्त्री)

अनेकान्तकी ७वीं तथा ६वीं किरणमें 'श्रुतज्ञान-का आधार' शीर्षक लेखमें भावमनके ऊपर कुछ प्रकाश डाला गया है। किन्तु अभीतक द्रव्य-मनके ऊपर प्रकाश नहीं डालागया है। द्रव्यमनका विषय प्रायः अन्धकारमें ही है। जैन सिद्धान्तमें इस विषय पर अलग कोई कथन नहीं मिलता है। अभीतक लोगोंकी यह धारणा है कि मनका काम हेयोपादेय का विचार करना है। परन्तु आजकल-के विज्ञानवादी इस सिद्धान्तको नहीं मानते हैं। सभी डाक्टर और वैद्य भी आज इस बातको सिद्ध करते हैं कि हृदयका काम हेयोपादेयका विचार करना नहीं है।

आजकलके विज्ञानके अनुसार रक्त-परिचालक यंत्रको ही 'हृदय' कहते हैं। यह हृदय मांससे बनता है तथा दो फुफ्फुसों (फेफड़ों) के बीचमें वक्षके भीतर रहता है। यह हृदय पूर्ण शरीरमें रक्तका संचालन करते हुए दो महाशिराओं द्वारा दाहिने कोष्ठमें वापिस आजाता है। ज्योंही इस कोठरी में भर जाता है, वह सिकुड़ने लगती है, इसलिये रक्त उसमेंसे निकलकर क्षेपककोष्ठमें चलाजाता है।

हृदयमें चार कपाट होते हैं—

१—दाहिने ग्राहक और क्षेपक कोष्ठोंके बीचमें २—वायें ग्राहक और क्षेपककोष्ठोंके बीच में, ३—फुफ्फुसीया धमनीमें, ४-बृहत् धमनीमें।

फुफ्फुस रक्तको शुद्ध करनेवाले अंग हैं। इन अंगोंमें रक्त शुद्ध होकर नालियों द्वारा (दो शिरायें दाहिने फुफ्फुससे आतो हैं, और दो वायेंसे) वायें ग्राहक कोष्ठमें लौट आता है। भर जानेपर कोष्ठ सिकुड़ने लगता है और रक्त उसमें से निकलकर वायें कोष्ठमें प्रवेश करता है। रक्तके इस कोष्ठमें पहुँचने पर कपाटके किवाड़ ऊपरको उठकर बन्द होने लगते हैं। और जब कोष्ठ सिकुड़ता है, तो वे पूरे तौरसे बन्द हो जाते हैं, जिससे रक्त लौटकर ग्राहक कोष्ठमें नहीं जासकता क्षेपककोष्ठके सिकुड़ने से रक्त बृहत् धमनोमें जाता है। बृहत् धमनीसे बहुतसी शाखाएं फूटती हैं, जिनके द्वारा रक्त समस्त शरीरमें पहुँचता है।

इस तरहसे रक्त हृदयसे चलकर शरीरभरमें घूमकर फिर वापिस हृदयेमें ही लौट आता है। इस परिभ्रमणमें १५ सेकण्डके लगभग लगते हैं।

हृदय नियमानुसार सिकुड़ता और फैलता रहता है। फैलने पर रक्त उसमें प्रवेशकरता है और सिकुड़ने पर रक्त उसमेंसे बाहर निकलता है। जब हृदय संकोच करता है, तो वह बड़े वेगसे रुधिरको धमनियोंमें धकेलता है। हृदयके संकोच और प्रसारसे एक शब्द उत्पन्न होता है, जो छातीके

पास सुनाई दिया करता है। इसी धड़कनके बन्द होनेसे या रक्तगति बन्द होनेसे मृत्यु हो जाती है। इसीको आज कल हार्ट फ़ेल कहते हैं।

हृदयका इस प्रकार जितना भी वर्णन मिलता है, वह सब रक्त संचालनसे ही मतलब रखता है, हृदय रक्तका ही केन्द्रस्थान है।

इसके विपरीत जैन सिद्धान्तमें मनका लक्षण निम्नप्रकार किया है—आचार्य पूज्यपादने द्रव्य मनका सामान्य लक्षण "पुद्गल विपाकिकर्मोदयापेक्षं द्रव्यमनः" (सर्वा—२-११) अर्थात पुद्गल विपाकी कर्मोदयकी अपेक्षा अथवा अंगोपांग नामानामकर्मके उदयसे द्रव्यमनकी रचना होती है। इसी विषयको आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्तीने, हृदयका स्थान बताते हुए जीवकांडमें कहा है कि—

हिदि होदिहु दव्वमणं वियसिय-अट्ठच्छदारविंदं वा।
अंगोवंगुदयादो मणवग्गणखंध दो णियमा ॥४४२॥

अर्थ—अंगोपांग नाम कर्मके उदयसे मनोवर्गणाके स्कन्धों द्वारा हृदयस्थानमें आठ पांखड़ीके कमलके आकारमें द्रव्यमन उत्पन्न होता है।

इस गाथाके द्वारा मनका स्थान तथा उसकी उत्पत्तिका कारण बताया गया है। आजकलके वैज्ञानिक भी मनका स्थान वक्षस्थल या हृदय बताते हैं। तथा हृदयके आकारको भी बन्द मुट्ठी के सदृश बताया करते हैं। जैनाचार्योंने मनका आकार कमलाकार बताया है। इस प्रकार प्रकट रूपसे दोनों कथनोंमें विरोध मालूम होता है। परन्तु विचारकर देखा जाय तो इसमें कोई विरोध की बात नहीं हैं। जैनाचार्योंने आठ पांखड़ीके कमलका दृष्टान्त दिया है, इसका यह तात्पर्य कभी भी नहीं लिया जा सकता कि ठीक अष्टदल कमलके सदृश ही होना चाहिए। यह तो केवल बोध करानेके लिए दृष्टान्तमात्र है। यदि हम मांसके बने हुए हृदयमें वैसी ही पांखुड़ी तथा रज आदि खोजने लगजावें तो हमको निराशही होना पड़ेगा। पुस्तकोंमें दिए हुए हृदयके चित्र देखनेसे ज्ञात होता है कि जो जैनाचार्योंने कमलका दृष्टान्त दिया है, वह बन्द मुट्ठीके दृष्टान्त से अच्छा है। इसलिए आकारके विषयमें विशेष विवाद नहीं हो सकता।

सैद्धान्तिक ग्रन्थोंमें किसी भी जैनाचार्यने मन काकार्य रक्तसंचालन नहीं बताया। आचार्य पूज्यपादने
"गुणदोषविचारस्मरणादि व्यापारेषु इन्द्रियानपेक्षत्वाच्चक्षुरादिवद् बहिरनुपलब्धेश्च अन्तर्गतं करणमिति"

(सर्वा० १-१४)

इस वाक्यके द्वारा मनको गुण दोष विचार स्मरणादिमें कारण बताया है। बृहद्द्रव्य संग्रहमें भी "द्रव्यमनस्तदाधारेणशिक्षालापोपदेशादि ग्राहकं" इत्यादि पद मिलते हैं। इन प्रमाणोंसे शिक्षा, उपदेश आदि मनका व्यापार सिद्ध होता है। परन्तु वैज्ञानिक इस बातको स्वीकार नहीं करते। वैज्ञानिकोंके कथनानुसार यह सब कार्य मस्तिष्कका ही है। विचारना, स्मरण करना आदि विवेकसम्बन्धी सभी कार्य मस्तिष्कसे ही होते हैं। मस्तिष्कको संवेदनका केन्द्र माना गया है। यह मस्तिष्क आठ अस्थियोंसे निर्मित कपालके भीतर होता है। इस मस्तिष्कमें बहुतसे अंग होते हैं। उनमेंसे कुछ अंगोंके द्वारा हम विचार करते हैं। उन्हींके द्वारा हमको सुख, दुख,

गरमी, सर्दीका ज्ञान होता है। उन्हींकी सहायता से हमको शब्द, रस, सुगन्ध दुर्गन्ध आदिका बोध होता है। इन सबका संवेदन अलग अलग नाड़ियों द्वारा होता है।

मस्तिष्क से १२ जोड़े नाड़ियोंके लगे रहते हैं। पहिला जोड़ा गंधसे सम्बन्ध रखता है। हरएक तरफ बालों सरीखी पतली २० नाड़ियाँ रहती है। ये घ्राणनाड़ियाँ कहलाती हैं। नासिकाके घ्राण प्रदेश से प्रारम्भ होती हैं और कपालके घ्राण खण्ड से जुड़ती हैं।

दूसरा जोड़ा—दृष्टि नाड़ियां कहलाती हैं। तीसरा जोड़ा भी नेत्रचालिनी नाड़ियाँ कहलाती हैं। चौथे जोड़ेका भी नेत्र की गति से संबन्ध है। पांचवाँ जोड़ा तथा छठा जोड़ा आँखकी गतिसे सम्बन्ध रखता है। सातवाँ जोड़ा चेहरेकी पेशियों की गति से सम्बन्ध रखता है। आठवाँ जोड़ेका सुननेसे सम्बन्ध है इन्हें श्रावणी नाड़ियाँ कहते हैं। नवमें जोड़े का जिह्वा और कंठसे सम्बन्ध है। दसवें जोड़ेका स्वर, यन्त्र, फुप्फुस, हृदय, आमाशय, यकृतादि अंगोंसे सम्बन्ध है। और ग्यारहवां तथा बारहवां जोड़ा जिह्वाके अंगोंसे सम्बन्ध रखता है।

हमारी मुख्य पाँच ज्ञान इन्द्रियां हैं, स्पर्शन (त्वचा) रसना, घ्राण, चक्षु, कर्ण इन पांचों इन्द्रियोंसे केन्द्रगामी तार प्रारम्भ होकर सुषुम्ना नाड़ी द्वारा मस्तिष्कमें पहुंचते हैं। मस्तिष्कके भी बहुतसे हिस्से माने गये हैं। चक्षु, कर्ण, घ्राण आदिके केन्द्रगामी तार नाड़ियों द्वारा मस्तिष्कके ज्ञानके केन्द्रोंमें जाते हैं।

कल्पना कीजिए आपके हाथ पर ठंडा पानी छोड़ा गया। इस ठंडे पानीसे त्वचाके संवेदनिक कणों पर एक विशेष प्रकारका प्रभाव पड़ा या परिवर्तन हुआ। इस परिवर्तनकी सूचना त्वगीया तारों-द्वारा सुषुम्नाके पास तुरन्त पहुंचती है। ऊर्ध्वशाखा की नाड़ियां सुषुम्नाके ऊपरी भागसे निकलती है। ये तार पाश्चात्य मूलों द्वारा सुषुम्नामें घुसते हैं। सुषुम्ना में इन तारोंकी छोटी २ शाखायें तो सैलोंके पास रह जाती हैं, परन्तु वे स्वयं शीघ्र ही सुषुम्नाके बायें भागमें पहुंचकर—सुषुम्नाशीर्षक और सेतुमें होते हुए स्तम्भ में पहुँचती हैं। स्तम्भ-द्वारा वायें थैलेमसमें पहुँचते हैं और यहीं रहजाते हैं, यहांसे फिर नये तार निकलते हैं, जो ऊपर चढ़कर वायें सम्वेदनाक्षेत्र में पहुँचते हैं, वहाँ सम्वेदन हुआ करता है। सम्वेदनक्षेत्रका सम्बन्ध गति क्षेत्रकी सेलोंसे तथा मानसक्षेत्रकी सेलोंसे रहा करता है। यदि हम ठंडे जलको पसन्द नहीं करते तोगति क्षेत्र मानसक्षेत्रको आज्ञा देता है कि हाथ उस क्षेत्रसे हट जावे, तो हाथ वहाँसे हट जाता है। यह सब मस्तिष्कका कार्य है। मस्तिष्कके और भी बहुतसे कार्य होते हैं, उनका उल्लेख इस लेख में उपयोगी नहीं है।

मस्तिष्कके इस विवेचनसे यह स्पष्ट होजाता है कि सभी प्रकारका सम्वेदन मस्तिष्कके द्वारा हुआ करता है। हृदयका काम सम्वेदन करना किसी भी तरह सिद्ध नहीं हो सकता।

अब विचारना यह है कि जैन सिद्धान्तसे हृदयके वर्णनमें किसी तरह विरोध दूर होसकता है या नहीं ? इसके पूर्व यदि हम यह विचारल कि हृदय और मस्तिष्कका कोई घनिष्ठ सम्बन्ध

है या नहीं ? अथवा मस्तिष्क स्वतन्त्र संवेदन कर सकता है या कि नहीं ? तो ज्यादा अच्छा होगा।

मस्तिष्कका सम्बन्ध हृदय और फुप्फुस दोनों नाड़ियोंसे होता है। भयमें मस्तिष्कके हृदयंकेन्द्रका दबाव हृदय परसे कम होता है, हृदय बड़ी तेजीसे धड़कने लगता है, भयमें विचारनेकी शक्ति नहीं रहती है। जिनके हृदयमें रोग होता है उनकी धारणाशक्ति तथा विचारनेकी शक्ति बहुत कम हो जाती है। इसी प्रकार जब हृदयसे कमजोरीके कारण ठीक समय पर रक्तकी उचित मात्रा मस्तिष्क में नहीं पहुंचती तो मस्तिष्कका वर्द्धन भी ठीक नहीं होता, और वह ठीक २ काम भी नहीं करसकता।

पांचों इन्द्रियोंका कार्य पृथक् २ है, इनके द्वारा इन्द्रियसम्बन्धी ज्ञान मस्तिष्कमें होता है। स्पर्शन इन्द्रियसे ठंडा गरम आदिका बोध होता है, तथा चक्षुसे रूपका, इसीप्रकार अन्य इन्द्रियोंसे संवेदन होता है। इन इन्द्रियोंके अलावा और भी तो बहुतसे संवेदन होते हैं। वह किसका कार्य होगा ? पांचों इन्द्रियोंका विषयतो निश्चित तथा परिमित है, उनके द्वारा अपने विषयको छोड़कर अन्य प्रकारके संवेदनकी संभावना ही नहीं है। भय, हर्ष, सुख, दुख इत्यादिका संवेदन इन इन्द्रियोंके द्वारा संभव नहीं है, परन्तु इनका संवेदन होता अवश्य है। साथमें यह भी निश्चित है कि मस्तिष्क स्वयं किसीका संवेदन नहीं करता, वह तो प्रेरणाके द्वारा ही संवेदन करता है। बिना स्पर्शन इन्द्रियकी सहायताके गरमी-सर्दीका संवेदन स्वयं मस्तिष्क कभी भी नहीं करसकता। इसी प्रकार भय-हर्ष आदिके विषयमें भी समझना चाहिये।

जैनाचार्योंने पांचों इन्द्रियोंके साथ मनको भी इन्द्रिय रूपमें स्वीकार किया है, किन्तु यह मन अन्य इन्द्रियोंकी तरह भीतर रहनेके कारण दृष्टिगोचर नहीं होता, इसलिये इसे अनिन्द्रिय अथवा अन्तःकरण कहा है। 'करण' का अर्थ इन्द्रिय, और 'अन्तः'का अर्थ भीतर होता है। इसलिए भीतरकी इन्द्रिय यह साफ़ अर्थ है। आचार्य पूज्यपादने "अनिन्द्रियं मन: अंतःकरण मित्यनर्थान्तरम्" ऐसा लिखा है। तथा कोई अनिन्द्रियका अर्थ "इन्द्रिय का अभाव" न ले लें, इसीलिए आचार्य महोदयने अनुदरा कन्याका उदाहरण देकर यह स्पष्ट कर दिया है कि यहां सद्भाव रूप ही अर्थ लेना चाहिये।

मनका विषय अन्य इन्द्रियोंकी तरह निश्चित करदिया गया है। आचार्य पूज्यपादने स्पष्ट कहा है कि—

"गुणदोष विचार स्मरणादिव्यापारेषु इन्द्रियानपेक्षत्वाच्चक्षुरादिवद्" अर्थात् गुणदोषके विचारने में, स्मृति आदि व्यवसायमें इन्द्रियों की अपेक्षा नहीं होती यह तो मनका ही विषय है।

जिसप्रकार स्पर्शन इन्द्रियद्वारा ऊष्णताका संवेदन नहीं होता, वह तो संवेदन करनेमें कारण है (यह मैं पहिले बता चुका हूं कि किसप्रकार संवेदन होता है) इन्द्रियोंका कार्य खुद संवेदन करनेका नहीं है। इसीप्रकार मन भी एक इन्द्रिय है, वह स्वयं संवेदन न करके अपना सीधा काम मस्तिष्कसे कराता है। मस्तिष्कसे सीधा काम कराते हुए भी वह कार्य मनका ही कहलाता है। जिस प्रकार रूपका अनुभव मस्तिष्क द्वारा ही

होता है, परन्तु "आँखने देखा" ऐसा व्यवहार किया जाता है।

पदार्थोंकी किरणें पहिले आँखकी कनीनका-पर पड़ती हैं। वहाँसे चक्षुके भीतर प्रवेश करतीं हैं, जल, रस, तारा, ताल, तथा स्वच्छ गाढ़े द्रवमें-से होकर अन्तरीय दृष्टि पटल अथवा ज्ञानी परदे पर पड़ती हैं। ज्ञानी परदेमें चक्षुकी नाड़ीको उनके द्वारा प्रोत्साहन मिलता है, वह प्रोत्साहन मस्तिष्क में पहुँचकर दृष्टिकेन्द्रके पुष्पको जागृत करता है। पश्चात् हमें देखनेका ज्ञान होता है। यह नेत्रानुभवका तरीका है। इसीप्रकार मनके लिए भी समझना चाहिए। अतः व्यवहारमें यदि मनका काम हेयोपादेयरूप कहाजाय तो अनुचित नहीं समझना चाहिए।

जैनाचार्योंने भी मनको कारण ही बताया है। ऐसा नहीं कहा है कि मनके द्वारा हृदयके आत्म-प्रदेशोंमें संवेदन होता है। आचार्य पूज्यपादने "यतो मनो व्यापारोहिताहित प्राप्तिपरिहारपरीक्षा' ऐसा ही कहा है। मनका व्यापार हिताहित-प्राप्ति-परिहारमें होता है, इसका अर्थ यह नहीं लिया जासकता कि यह व्यापार मनके भीतर ही हुआ करता है। इसी बातको उमास्वामीने बहुत ही स्पष्ट कर दिया है-तत्त्वार्थसूत्रके प्रथम अध्यायमें मति-स्मृति-संज्ञा-चिन्ता अभिनिवोध-रूप मतिज्ञान कैसे उत्पन्न होता है? इसका कारण बतानेके लिये "तदिन्द्रियानिन्द्रिय-निमित्तम्" इस सूत्रकी रचना की है। इस सूत्रमें बताया गया है कि मतिज्ञानके उत्पन्न करनेके लिये स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र और मन ये छह वहिरंग कारण हैं"। यहां आचार्यने अन्य इन्द्रियोंकी तरह मनको भी ज्ञान-की उत्पत्तिका कारण बताया है। इन्द्रियोंको मति-ज्ञानकी उत्पत्तिका स्थान नहीं बताया। पंचाध्यायीकारने मनःपर्ययज्ञानकी उत्पत्तिका स्थान मन बताया है।

> दूरस्थानर्थानिह समक्षमिव वेत्ति हेलया यस्मात्।
> केवल मेवमनसादवधिमनःपर्ययद्वयं ज्ञानं ॥ ७०५ ॥

अर्थात्—अवधि और मनः पर्ययज्ञान केवल मनसे दूरवर्त्ती पदार्थोंको लीलामात्रसे प्रत्यक्ष जानलेते हैं। यहां मनको सहायताका और कुछ अर्थ नहीं है, केवल यही अर्थ है कि द्रव्यमनके आत्मप्रदेशोंमें मनःपर्ययज्ञान होता है। मन-इन्द्रियसे मनःपर्यय ज्ञानका और कुछ भी प्रयोजन नहीं है, क्योंकि वह इन्द्रिय निरपेक्ष होता है। नीचेकी गाथा से इस अर्थकी और भी पुष्टि हो जाती है।

> अपिकिं वाभिनिवोधक बोधद्वैतं तदादिमं यावत्।
> स्वात्मानुभूति समये प्रत्यक्षं तत्समक्षमिव नान्यत् ॥ ७०६ ॥

अर्थात्—केवल स्वात्मानुभूतिके समय जो ज्ञान होता है, वह यद्यपि मतिज्ञान है तो भी वह वैसाही प्रत्यक्ष है जैसा कि आत्मभाव सापेक्ष प्रत्यक्ष ज्ञान होता है।

यहां मतिज्ञानको भी जब इन्द्रियोंकी अपेक्षा नहीं होती, उस समय प्रत्यक्ष कहा है, फिर यदि मनःपर्ययज्ञानको मनइन्द्रियकी सहायतासे मानें तो उसे प्रत्यक्ष कैसे कह सकेंगे।

गोमटसार-जीवकाण्डकी ३७० वीं गाथामें अवधिज्ञानके स्वामीका वर्णन करते हुए यह भी बताया है कि गुणप्रत्यय अवधिज्ञान शंखादिक चिन्होंके द्वारा हुआ करता है, तथा भवप्रत्यय अवधिज्ञान संपूर्ण अंगमें होता है। इसका स्पष्ट

अर्थ तत्रस्थ आत्मासे ही है । इसीप्रकार मनः-पर्यय ज्ञानभी द्रव्यमनके आत्मप्रदेशोंमें होता है। ऐसाही समझना चाहिये । अतः यह शंका नहीं हो सकती कि मनःपर्ययज्ञानका संवेदन मनमें होता है या मन इन्द्रिय उसमें काम करती है। अतः मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय ज्ञान मनमें नहीं होते किन्तु मन केवल निमित्त कारण ही है।

वृहद् द्रव्यसंग्रहमें "द्रव्यमनस्तदाधारेण शिक्षालापोपदेशादि ग्राहकं" इस तृतीयान्तपदसे भी यही अर्थ निकलता है। यदि टीकाकारको "मनमें" यह अर्थ अभीष्ट होता तो सप्तमीका पद दिया जासकता था।

यहां यहभी शंका नहीं करना चाहिये कि जैनाचार्योंने हृदयका मुख्यकार्य रक्तसंचालनका वर्णन नहीं किया । क्योंकि सिद्धान्त ग्रन्थोंमें सिद्धान्तका ही वर्णन किया जायगा, शरीरशास्त्र की यहां अपेक्षा नहीं है। नाकका काम सुगन्ध-ज्ञानके अलावा श्वास आदि कार्य भी है। जिह्वा-का रसज्ञानके साथ शब्दोच्चारण आदि कार्य हैं, परन्तु सभीके वर्णनकी सब जगह अपेक्षा नहीं होती। हां, वैद्यक शास्त्रोंमें इसका वर्णन किया गया है।

जिस इन्द्रियका जो कार्य होता है, उस कार्य की अधिकतासे या तेजीसे मस्तिष्कके साथ साथ उस इन्द्रियपर भी असर पड़ता है। तेज सुगन्धिसे दिमाग़के साथ नाक भी झनझना जाती है। किसी पदार्थको बहुत देर तक देखते रहनेसे आखें दर्द करने लगती हैं। उसी प्रकार किसी तरहके भयानक विचारोंसे अथवा भयसे हृदयकी गतिपर असर पड़ता है, हृदय धकधकाने लगता है, इससे मालूम पड़ता है ये सब गुण हृदयके हैं। अन्यथा हृदय पर असर नहीं पड़ना चाहिए था। जिस प्रकार सुगन्धि घ्राणका कार्य मानाजाता है, क्योंकि उस का असर घ्राण पर पड़ता है। उसी प्रकार भय आदिका असर हृदयपर पड़ता है, इसलिए ये सब हृदयके कार्य माने जाने चाहिएँ।

डा० त्रिलोकीनाथवर्मा शरीरविज्ञानके प्रामाणिक लेखक माने जाते हैं। आपने "स्वास्थ्य और रोग" नामक एक सुन्दर पुस्तक लिखी है, इसी पुस्तकके ७८१ वें पृष्ठ पर आपने लिखा है कि "मन-सम्बन्धी जितनी बातें हैं वे सब मस्तिष्कके द्वारा होती हैं। विचार अनुभव, निरीक्षण, ध्यान, स्मृति, बुद्धि, ज्ञान, तर्क या विवेक ये सब मनके गुण हैं।"

डा० त्रिलोकीनाथके इस कथनसे हमारी और भी पुष्टि होजाती है । इसलिये जैन सिद्धान्तमें माने हुए मनके लक्षणमें किसी तरह विरोध नहीं आता।

अति प्राचीन प्राकृत 'पंचसंग्रह'

(लेखक पं० परमानन्द जैन शास्त्री)

दिगम्बर जैन ग्रन्थोंमेंसे 'पंचसंग्रह' नामका एक अति प्राचीन,प्राकृतग्रन्थ अभी हालमें उपलब्ध हुआ है। इस ग्रन्थकी यह उपलब्ध प्रति सं० १५२७ की लिखी हुईहै, जो टंवक नगरमें माघवदी ३ गुरुवारको लिखी गई थी। इसकी पत्र संख्या ६२ है, आदि और अन्तके दोपत्र एक ओर ही लिखे हुए हैं और हासिये में कहीं कहींपर संस्कृतमें कुछ टिप्पणी भी वारीक अक्षरोंमें दी हुई है। इस टिप्पणीके कर्ता कौन हैं? यह ग्रन्थ प्रति पर से कुछभी मालूम नहीं होता। ग्रन्थमें प्राकृत गाथाओंके सिवाय, कहीं कहीं पर कुछ प्राकृत गद्य भीदिया हुआ है। ग्रन्थके अन्तमें कोई प्रशस्ति लगीहुई नहीं है और न ग्रन्थकर्तानें किसी स्थलपर अपना नाम ही व्यक्त किया है। ऐसी स्थितिमें यह ग्रन्थ कब और किसने बनाया? आदि बातें विचारणीय और अन्वेषण किये जानेके योग्य हैं।

इस ग्रन्थकी रचना दृष्टिवाद नामके १२वें अङ्ग-से कुछ गाथाएं लेकर कीगई हैं, जैसाकि उसके चतुर्थ और पंचम अधिकारमें क्रमश: दीगई निम्न दो गाथाओंसे प्रकट है:—

सुणह इह जीव गुणसन्निहि सुठाणे सुसार जुत्ताओ।
वोंच्छं कदि वइयाओ गाहाओ दिट्ठिवादाओ॥
सिद्धपदेहि महत्थं बंधोदय सत्त पयडि ठाणाणि।
वोच्छं पुण संखेवेणणिस्संदं दिट्ठिवादा दो॥

४-३, ५-२

इनमेंसे पहली गाथामें बताया है कि 'जीवस्थान और गुणस्थान-विषयक सारयुक्त कुछ गाथाओंको दृष्टिवादसे १२ वें अंगसे लेकर कथन करता हूँ।' और दूसरी गाथा में यह बताया गया है कि 'दृष्टिवादसे निकले हुए बंध, उदय और सत्वरूप प्रकृतिस्थानोंके महान् अर्थको पुनः प्रसिद्ध पदोंके द्वारा संक्षेपसे कहता हूँ। इससे स्पष्ट है कि इस ग्रन्थकी अधिकांश रचना दृष्टिवादनामक १२ वें अंगसे सार लेकर और उसकी कुछ गाथा-ओंको भी उद्धृत करके कीगई है। ग्रंथकी श्लोकसंख्या दोहजारके लगभग है। इसमें जुदे-जुदे पांच प्रकरणोंका संग्रह कियागया है, इसी-लिये इसका नाम 'पंचसंग्रह' सार्थक जान पड़ता है। वे प्रकरण इस प्रकार हैं—

१ जीवस्वरूप, २ प्रकृतिसमुत्कीर्तन, ३ कर्म-स्तव, ४ शतक और ५ सप्ततिका। ग्रन्थको आद्यो-पान्त देखने और तुलनात्मक दृष्टिसे अध्ययन करनेसे यह बहुत ही महत्वपूर्ण और प्राचीन जान पड़ता है। दिगम्बर जैनसमाजमें उपलब्ध गोम्मटसार और संस्कृतपंचसंग्रह से यह बहुत अधिक प्राचीन मालूम होता है। इस ग्रंथकी बहुत सी गाथाओंका संग्रह गोम्मटसारादि ग्रन्थोंमें कियागया है, जिसे विस्तारके साथ फिर किसी स्वतन्त्र लेख द्वारा प्रकट करनेका विचार है।

पुष्पदन्त और भूतबलि द्वारा प्रणीत 'षट्खण्डागमम्' पर 'धवला' और 'जयधवला' टीकाके

रचियता आचार्य वीरसेनने अपनी धवलाटीकामें इस ग्रन्थकी कितनीही गाथाएं 'उक्तं च रूप से या बिना किसी संकेत के उद्धृत की हैं—अथवा यों कहिये कि जिन गाथाओंको अपने कथन की पुष्टिमें प्रमाणरूपसे पेश किया है उनमेंसे बहुतसी गाथायें प्राकृत पंचसंग्रहकी हैं। धवलाका जो सत्प्ररूपणा विषयक अंश अभी हालमें मुद्रित हुआ है उसमें उद्धृत २१४ पद्योंमेंसे अधिकांश गाथाएं ऐसी हैं जो ज्योंकी त्यों अथवा थोड़ेसे पाठभेदादिके साथ इस ग्रन्थमें पाई जाती हैं। ये प्राय: इसी परसे उद्धृत जान पड़ती हैं। अभीतक किसीको पता भी न था कि ये किस प्राचीन ग्रन्थपरसे उद्धृत कीगई हैं। उनमेंसे कुछ गाथाएं नमूनेके तौर पर नीचे दी जाती हैं:—

गइ-कम्म-विणिव्वत्ता जाजेट्ठा सागई मुणेयव्वा।
जीवा हु चाउरंगं गच्छंति हु सागई होइ ॥
—प्राकृत पंच सं०, १, ४९

गइ-कम्म-विणिव्वत्ता जाचेट्ठा सागई मुणेयव्वा।
जीवा हु चाउरंगं गच्छंति तिय गई होइ ॥
—धवला० ८४, पृ० १३५

तं मिच्छत्तं जमसद्दहणं तच्चाण होइ अत्थाणं।
संसइदमभिगहियं अणभिगाहियंतुं तंतिविहं ॥
—प्राकृत पंच सं०, १, ७

तं मिच्छत्तं जहमसद्दहणं तच्चाण होइ अत्थाणं।
संसइदमभिग्गहियं अणभिग्गहिदं तितंतिविहं ॥
—धवला १०७, पृ० १६२

वेदस्सुदीरणाए बालत्तं पुणणियच्छदे बहुसो।
इत्थी पुरुस णउंस य वेयंति तओ हवदि वेदो ॥
—प्राकृत पंच सं०, १, १०१

वेदस्सुदीरणाए बालत्तं पुणणियच्छदे बहुसो।
थी-पुं-णवुंसएवि य वेएत्तितओ हवइ वेओ ॥
—धवला ८९, पृ० १४१

जिन गाथाओं में कुछ अधिक पाठ-भेद पाया जाता है उन्हें नीचे दिया जाता है:—

छम्मासाउगसेसे उप्पन्नं जेसि केवलं नाणं।
तेणियमासमुग्घायं सेसेसु हवंति भयणिज्जा ॥
—प्राकृत पंच सं०, १, २००

छम्मासाउवसेसे उप्पण्णं जस्स केवलं णाणं।
स-समुग्घाओ सिज्झइ सेसा भज्जा समुग्घाए ॥
—धव०, १६७, पृ० ३०३

छसुहेट्ठिमासु पुढविसु जोइसवण-भवण-सव्वइत्थीसु।
वारसमिच्छोवादे सम्माइट्ठिस्सणत्थि उववादो ॥
—प्रकृत पं०, १, १९३

छसुहेढिमासु पुढवीसु जोइस-वण-भवण-सव्व-इत्थीसु।
णेदेसु समुप्पज्जइ सम्माइट्ठी दु जो जीवो ॥
—धव०, १३३, पृ० २०९

इसी तरह प्राकृत पंचसंग्रहके प्रथम 'जीवस्वरूप' प्रकरणकी २३, ६६, ६९, ७१, ७५, ७७, ७८, ७९, ८०, ८८, १५६, नं० की गाथाएं धवलाटीकाके उक्त मुद्रित अंश में १२१, १३४, १३५, १३७, ८६, १४६, १५०, १५१, १५२, १४०, १९६, २१२ नम्बरपर ज्यों की त्यों अथवा कुछ मामूलीसे शब्द परिवर्तनके साथ पाई जाती हैं।

इन गाथाओंके सिवाय, १०० गाथाएं और भी धवलाके उक्त मुद्रित अंशमें उपलब्ध होती हैं। इस तरह कुल ११६ गाथाएं उक्त अंशमें पंच-संग्रहकी पाई जाती हैं, जिनमेंसे उक्त १०० गाथाएं ऐसी हैं जिनका प्रोफेसर हीरालालजीने अपनी प्रस्तावनामें धवलाटीकापर से गोम्मटसारमें संग्रह किया जाना लिखा है। ये गाथाएं गोम्मट-सारमें तो कुछ कुछ पाठ-भेदके साथ भी उपलब्ध होती हैं, परन्तु पंचसंग्रहमें प्राय: ज्योंकी त्यों पाई जाती हैं—पाठ-भेद नहींके बराबर है और जो

है वहभी प्राय:लेखकोंकी कृपाका फल जान पड़ता है। इनके अलावा 'धवला' टीकाके अप्रकाशित भागमें भी कुछ गाथाएं पंचसंग्रहकी उपलब्ध होती हैं। जिनका पता मुख्तार श्री जुगलकिशोर-जीकी धवला-विषयक नोटबुकसे चला, और जिनमेंसे दो गाथाएं यहां नमूनेके तौरपर उद्धृत की जाती है :—

बेयण कसाय उव्विय मारणंतिओ समुग्घाओ ।
तेजाहारो छट्ठो सत्तमओ केवलीणं च ॥
—प्राकृत पंच सं० १, १९६

वेयणकसाय वेउव्वियओ मरणंतिओ समुग्घादो,
तेजाहारो छट्ठो सत्तमओ केवलीणं तु ॥
—धव० आरा प्र० पृ० १९५

णाणावरण चउक्कं दंसणतिग मंतरायगे पंच ।
ता होंति देसघाई सम्मं संजलण णोकसायाय ॥
—प्राकृत पंच सं०, ४-९६, पृ० ३५

णाणावरणचउक्कं दंसणतिग मंतरायगा पंच ।
ताहोंति देशघादी सम्मं संजलण णोकसायाय ॥
—धवला० आरा प्र० पृ० ३८०

इस सब तुलनापरसे स्पष्ट है कि आचार्य वीरसेनके सामने 'पंच संग्रह' जरूर था, इसीसे उन्होंने उसकी उक्त गाथाओंको अपने ग्रन्थोंमें उद्धृत किया है। आचार्य वीरसेनने अपनी 'धवला' टीका शक सं० ७३८ (विक्रम सं० ८७३) में पूर्ण की है। अत: यह निश्चित है कि पंचसंग्रह इससे पहलेका बना हुआ है।

पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीने 'जैनसिद्धान्त भास्कर, के ५ वें भागकी चतुर्थ किरणमें 'दि० जैन ग्रन्थोंकी बृहत्सूची' नामका एक लेख प्रकट किया था, उसमें 'सिद्धान्त ग्रंथ' उपशीर्षकके नीचे आचार्य वीरसेनके ग्रंथोंमें 'पंच संग्रह' का भी नाम दिया गया है, जिससे मालूम होता है कि आचार्य वीरसेनने पंचसंग्रह नामका भी कोई ग्रन्थ बनाया है। परन्तु प्रस्तुत 'प्राकृत पंचसंग्रह' की जो प्रति मेरे पास है, उसमें कर्ताका कोई नाम नहीं है। इधर 'दि० जैन ग्रन्थकर्ता और उनके ग्रन्थ नामकी पुस्तकमें वीरसेनाचार्यके ग्रन्थोंमें 'पंचसंग्रह' का कोई नाम नहीं है, और न अभी तक कहीं किसी ग्रन्थमें इस प्रकारका उल्लेखही उपलब्ध होता है, जिससे इस ग्रन्थको वीरसेना-चार्यकी कृति माना जा सके। मालूम होता है बाबा दुलीचन्दजीने, जिनकी सूचीके आधार पर उक्त बृहत् सूची तैयार हुई अपनी सूचीमें जनश्रुति आदिके आधारपर ऐसा लिखदिया है। उस सूचीमें और भी बहुत से ग्रन्थ तथा ग्रन्थकर्ताओंके विषय में ग़ल्ती हुई है, जिसे फिर किसीसमय प्रकट करने का प्रयत्न किया जायगा। इसके सिवाय आचार्य अमितगतिने वि० सं० १०७३ में जो अपना संस्कृत पंचसंग्रह बनाया है और जो प्राय: इसी-के आधारपर बनाया गया है, उसमें भी पंच-संग्रहके नामके सिवाय आचार्य वीरसेनका कोई ज़िकर नहीं है। अत: इस प्राकृत पंचसंग्रहके कर्ता आचार्यवीरसेन मालूम नहीं होते। यदि वीरसेन इसके कर्ता होते तो धवला टीकामें पंच-संग्रहकी जो गाथायें 'उक्तंच' रूपसे दीगई हैं उनमेंसे किसीमें भी कोई विशेष पाठ-भेद न होता पंच-संग्रहकी १८४वीं गाथाका धवलामें पूर्वार्ध तो मिलता है परन्तु उत्तरार्ध नहीं मिलता, जिससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि यदि धवलाकी तरह पंच-संग्रह ग्रन्थ के कर्ता भी आचार्य वीरसेन ही होते तो यह संभव नहीं था कि वे अपने एक ग्रंथमें जिस पद्यको जिस रूपमें लिखते उसे अपने दूसरे ग्रंथमें 'उक्तंच' रूपसे देकर भी इतना अधिक बदल

देते जैसाकि निम्नलिखित पद्यमें पाया जाता है:—

पम्हा पउम सवण्णा सुक्का पुण्णकास कुसमसंकासा ।
वण्णंतरं च एदेहवंति परिपरिमिता अणंतावा ॥
—प्राकृत पंच सं०. १,१८४

पम्मा पउम सवण्णा सुक्का पुण्णकास कुसम संकासा ।
किण्हादि दव्व लेस्सा वण्ण विसेसो मुणेयव्वो ॥
धवला आरा प्र० पृ० ६५

अतः आचार्य वीरसेन इस पंच-संग्रहके कर्ता नहीं हो सकते और अब इस ग्रन्थके रचनाकाल के विषयमें जो कुछ भी तुलनात्मक अध्ययन से मालूम होसका है उसे नीचे प्रकट किया जाता है:—

कसायप्राभृतके रचयिता आचार्य गुणधर हैं, जिन्हें आचार्यपरम्परासे लोहाचार्यके बाद, अंगों और पूर्वोंका अवशिष्ट एकदेशरूप श्रुतका परिज्ञान प्राप्त हुआ था और जो ज्ञानप्रवाद नामक पाँचवें पूर्वस्थित दशम वस्तुके तीसरे पाहुडके पारगामी विद्वान थे उन्होंने श्रुतके विनष्ट होनेके भयसे तथा प्रवचनवात्सल्यसे प्रेरित होकर १८० गाथाओंमें 'कषाय प्राभृत' की रचना की, और इन्हीं गाथाओंकी सम्बन्धसूचक एवं वृत्ति रूपक ५३ विवरणगाथाओंकी और भी रचना की। इसतरह से कषाय प्राभृतकी कुल गाथाएँ संख्या में २३३ हैं, जिन्हें उक्त मुख्तारसाहबकी जयधवला विषयक नोट-बुकपर से देखने और पंचसंग्रह की गाथाओंके साथ तुलना करने से मालूम हुआ कि दर्शनमोह का उपशम और क्षपणाके स्वरूपका निर्देश करनेवाली कषाय प्राभृतकी तीन गाथाएँ 'पंचसंग्रह' में प्रायः ज्यों की त्यों पाई जाती है और वे इस प्रकार हैं:—

दंसण मोह स्सुवसामगो दु चदु सुवि गदीसु बोद्धव्वो ।
पंचिंदिओय सण्णी णियमोसो होइपज्जत्तो ॥
—कसाय पाहुड० ९१

दंसणमोह उवसामगोदु चदुसुविगई सुबोइव्वो ।
पंचिंदिओय सण्णी णियमा सो होइ पज्जत्तो ॥
—प्राकृत पंच सं०, १, २०४

दंसण मोहक्खवणा पट्ठवगो कम्म भूमि जादोदुं ।
णियमा मणुस गदीए निट्ठव गो चावि सव्वत्थ ॥
—कसाय पाहुड० १०६

दंसण मोहक्खवणा पट्ठवगो कम्मभूमि जादोदु ।
णियमा मणुसगदीए निट्ठवगोचावि सव्वत्थ ॥
—प्राकृत पंच सं०, १, २०२

खवणाए पट्ठवगोजम्हिभवे णियमदोतदो अण्णे ।
णादिक्कदितिण्णिभवे धंसण मोहम्मि खीणम्मि ॥
—कसाय पाहुड, १०९

खवणाए पट्ठवगो जम्मि भवे णियम दो तदोअन्ने ।
णादिक्कदि तिन्नि भवं दंसणमोहम्मि खीणम्मि ॥
प्राकृत पंच सं०, १, २०३

कषाय प्राभृतका रचनाकाल यद्यपि निर्णीत नहीं है तो भी इतना तो निश्चित ही है कि इसकी रचना कुन्दकुन्दाचार्यसे पहले हुई है। साथ ही यह भी निश्चत है कि गुणधराचार्य पूर्ववित् थे और उनके इस ग्रंथ की रचना सीधीज्ञानप्रवाद पूर्वके उक्त अंशपरसे स्वतन्त्र हुई है—किसी दूसरे आधार को लेकर नहीं हुई। अतः यह कहना होगा कि उक्त तीनों गाथाएँ कषायप्राभृत की ही हैं और उसी परसे पंचसंग्रहमें उठाकर रक्खी गई हैं। इससे इतना तो स्पष्ट होजाता है कि पंचसंग्रह की रचना कषायप्राभृतके बाद किसी समय हुई है।

पंचसंग्रहमें पंचमगुणस्थानवर्ती श्रावकके दार्शनिक आदि ११ भेदोंके नामोंका निर्देश करनेवाली एक गाथा १६३ नम्बरपर पाई जाती है और उक्त गाथा आचार्य कुंदकुंदके 'चारित्र प्राभृत'में भी नं० २२ पर उपलब्ध होती है। यह गाथा दोनों ग्रन्थकारोंमेंसे किसी एकने

जरूर उद्धृत की है, बहुत सम्भव है कि आचार्य कुन्दकुन्दने पंचसंग्रहसे उद्धृत की हो, और यह भी सम्भव है कि चारित्र प्राभृतसे पंचसंग्रहकारने उठाकर रक्खी हो; परन्तु बिना किसी विशेष प्रमाणके अभी इस विषयमें कुछ भी नहीं कहा जासकता है तो भी इससे इससे इतना तो ध्वनित है कि पंचसंग्रहकी रचना कुन्दकुन्दसे पहले या कुछ थोड़े समय बाद ही हुई होगी। हाँ इतना जरूर कहा जासकता है कि ५वीं शताब्दीसे पहले इसकी रचना हुई है, क्योंकि विक्रमकी छठी शताब्दीके पूर्वार्धके विद्वान आचार्य देवनन्दी (पूज्यपाद) ने अपनी सर्वार्थसिद्धिकी वृत्तिमें आगमसे चक्षुइन्द्रियको अप्राप्यकारी सिद्ध करते हुए पंचसंग्रहकी १६८ नम्बरकी गाथा उधृत की है, जिससे स्पष्ट है कि पंचसंग्रह पूज्यपादसे पहले बना हुआ है। वह गाथा इस प्रकार है:—

पुट्ठं सुणेइ सद्दं अपुट्ठं पुण पस्सदे रूपम् ।
फासं रसंच गंधं बद्धं पुट्ठं वियाणादि ॥

इसके सिवाय, श्वेताम्बरीय सम्प्रदायमें 'कर्म प्रकृति' के कर्ता शिवशर्मका समय विक्रमकी ५ वीं शताब्दी माना जाता है, उनका संग्रह किया हुआ एक 'शतक' नामका प्रकरण है उसमें बंधके कथन की प्रधानता होनेसे उसका बंधशतक नाम रूढ़ होगया है। इस ग्रन्थमें पंचसंग्रहकी बहुत गाथायें पाई जाती हैं, जिनका विशेष परिचय एक दूसरे ही लेखमें देनेका विचार है अस्तु, यदि शिवशर्मका उक्त समय ठीक है तो कहना होगाकि रचना विक्रम की ५ वीं शताब्दीसे पहले हुई है।

इस सब तुलनात्मक विवेचनपरसे स्पष्ट है कि यह 'पंच संग्रह' उपलब्ध दिगम्बर-श्वेताम्बर कर्म साहित्यमें बहुत प्राचीन है। इसमें डेढ़ हजारके करीब गाथाओंका अच्छा संकलन है। साथमें, अंक-संदृष्टिभी दी है, जिससे गाथाओंमें दीगई बातोंका अच्छी तरहसे स्पष्टीकरण होजाता है, परन्तु इस ग्रन्थके कर्ता कौन हैं—उनका क्या नाम है और उनकी गुरुपरम्परा क्या है? तथा इस ग्रन्थकी रचना कहाँ और कब हुई है? आदि बातें अन्धकारमें होनेसे उनके विषयमें अभी विशेष कुछभी नहीं कहा जासकता है, इसके लिये ग्रंथकी प्राचीन प्रतियोंकी तलाश होनी चाहिये। दिगम्बर-श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायोंके ग्रन्थभण्डारोंमें इसके लिये अन्वेषण होने की बड़ी जरूरत है। बहुत संभव है कि उक्त ग्रंथकी पं० आशाधरजी से पहलेकी प्रतियाँ उपलब्ध हो जांय, जिनपर कर्तादि की प्रशस्तिभी साथमें अंकित हो। क्योंकि पं० आशाधरजीने भगवती आराधनापर 'मूलाराधना दर्पण' नामकी जो टीका लिखी है उसके ८ वें आश्वासमें "तथाचोक्तं" वाक्यके साथ इस पंचसंग्रह ग्रन्थकी ६ गाथाएँ उद्धृत की हैं। जो पंचसंग्रह के तीसरे अधिकारमें नं० ६० से ६५ तक ज्यों की त्यों दर्ज हैं अतः अन्वेषण करनेपर इस ग्रन्थकी प्रस्तुत प्रतिसे भी अधिक प्राचीन ऐसी प्रतियोंके मिलनेकी बहुत बड़ी संभावना है। जिनपरसे कर्तादिका परिचय प्राप्त हो सके, और प्रकृत विषयके निर्णय करनेमें विशेष सहायता मिल सके। आशा है विद्वान्गण मेरे इस निवेदनपर अवश्य ध्यानदेंगे। और खोज द्वारा ग्रन्थकी और भी प्राचीन प्रतियाँ उपलब्ध होनेपर उनका विशेष परिचय प्रकट करनेकी कृपा करेंगे, अथवा मुझे उनकी सूचना देकर अनुगृहीत करेंगे।

वीर सेवा मन्दिर, सरसावा,
ता० १३-१-१९४०

जैन और बौद्ध निर्वाणमें अन्तर

[ले०—श्री० प्रोफेसर जगदीशचन्द्र जैन, एम. ए.]

सितम्बर १९३९ के अनेकान्त (२-११) में मैंने 'जैन और बौद्धधर्म एक नहीं' नामक एक लेख लिखा था, जिसमें ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजीकी "जैन और बौद्ध तत्वज्ञान" नामकी पुस्तककी समालोचना करते हुए यह बताया था कि ब्रह्मचारीजीका जैन और बौद्ध धर्मको एक बताना निरा भ्रम है। मेरे लेखके उत्तरमें ब्रह्मचारीजीने ३० नवम्बर १९३९ के जैन मित्रमें कुछ शब्द भी लिखे हैं, जिनमें कहा गया है कि मैं उनकी पुस्तक भूमिका-सहित आद्योपांत पढ़ लेता तो उनसे असहमत न होता। मैं ब्रह्मचारीजीसे कह देना चाहता हूँ कि मैंने उक्त पुस्तक अच्छी तरह आद्योपांत पढ़ ली है, लेकिन फिर भी मैं उनसे सहमत न हो सका। मैं समझता हूँ शायद कोई भी विद्वान् इस बातको माननेके लिये तैयार न होगा कि 'जैन और बौद्ध धर्म एक हैं और उनमें कुछ भी अन्तर नहीं है।" अपने पिछले लेखमें मैंने विस्तार पूर्वक बौद्धोंकी आत्मा सम्बन्धी मान्यताका दिग्दर्शन कराते हुए बताया है कि उसकी जैनसिद्धान्तसे जरा भी तुलना नहीं की जा सकती। बौद्धग्रन्थोंमें मांसोल्लेख आदिके सम्बन्धमें भी मैंने उक्त लेखमें चर्चा की है। दुःख है कि ब्रह्मचारी जी उन आक्षेपोंका कुछ भी उत्तर न दे सके।

अब ब्रह्मचारीजीकी मान्यता है कि "निर्वाणका स्वरूप जो कुछ बौद्ध ग्रन्थोंमें झलकता है वही जैन शास्त्रोंमें है।" इस लेखमें इसी विषय पर चर्चा की जायगी।

बौद्ध साहित्य बहुत विस्तृत है। कभी कभी तो उसमें एक ही विषयका भिन्न २ रूपसे प्रतिपादन देखने में आता है। ऐसी हालतमें बौद्धवाङ्मयका गहरा अध्ययन किये बिना, ऊपर ऊपरसे दो चार ग्रन्थोंको पढ़कर अपना कोई निर्णय देना यह बड़ी भारी भूल है। निर्वाणके सम्बन्धमें भी बौद्धग्रन्थोंमें विविधतायें देखनेमें आती हैं। यही कारण है कि युरोपियन विद्वानोंमें भी इस विषयमें मतभेद पाया जाता है। कुछ विद्वान् निर्वाणको शून्यरूप—अभावरूप—मानते हैं। जिसमें Hardy, Childers, James D' Alwis आदि हैं। दूसरे इसका विरोध करते हैं और कहते हैं कि बौद्धोंका निर्वाण भी ब्राह्मणोंकी तरह शाश्वत और अचल है। इस विभागमें Maxmullar, Stcherbatsky आदि हैं। हम यहां इस वाद-विवादमें गहरे नहीं उतरना चाहते, केवल इतना ही कहना चाहते हैं कि यदि बौद्धोंका निर्वाण अच्युत और स्थायी है तो उन्हें निर्वाणके लिये बहुत सी उपमायें मिल सकती थीं, उन्होंने दीपककी उपमा ही क्यों पसंद की? "निब्बंति धीरा यथायं पदीपो" (संयुत्त २३५)—प्रदीपके समान धीर निर्वाण पाते हैं (बुझ जाते हैं; "सीतीभूतोऽस्मि निब्बुतो" (विनय १-८) निर्वृत हो जानेसे मैं शीतल हो गया हूँ (ठंडा हो गया हूँ) "पदीपस्स एव निधानं विमोक्खो आहु चेतसो" आदि बौद्ध पाली ग्रन्थोंके उल्लेखोंसे मालूम होता है कि बौद्ध लोग प्रदीपनिर्वाणकी तरह आत्म निर्वाणको ही

निर्वाण मानते थे। फिर यदि अकलंक आदि जैन आचार्योंने बौद्धोंकी इस मान्यताका खंडन किया है तो उन्होंने कौनसा अन्याय किया है ? ब्रह्मचारीजीका जो यह कथन है कि "अकलंक आदि जैन आचार्योंने जैसा बौद्धधर्मका खंडन किया है वैसा बौद्धधर्म मज्झिम-निकाय आदि प्राचीन पाली पुस्तकोंमें नहीं है" वह भूलसे ख़ाली नहीं है। अपने कथनकी पुष्टिमें ब्रह्मचारी जी ने W. Rys Davids के कथनका उल्लेख किया है। लेकिन W. Rys. Davids का अभिप्राय यह बिलकुल नहीं है कि जैन और ब्राह्मण ग्रन्थकारोंने बौद्धधर्मका अनुचित खंडन किया है या उन्होंने बौद्ध धर्मके विषयमें जो कहा है वह भ्रमपूर्ण है। उन्होंने 'सेक्रेड बुक्स आफ़ दि ईस्ट'में बौद्धोंके कुछ ग्रंथोंका अंग्रेज़ीमें अनुवाद किया है। ये अनुवाद उन्होंने आज से साठ बरस पहले यानी सन् १८८० में किये थे। इन की भूमिकामें W. Rys. Davids ने Gegerly तथा Burnouf आदि युरोपियन विद्वानोंकी समालोचना करते हुये उनकी भूलें बताई हैं। इसी सिलसिलेमें W. Rys. Davids ने बताया है कि जबसे बौद्धोंका पाली साहित्य प्रकाशमें आया है तबसे बौद्ध धर्मके सम्बन्धमें लोगोंको नई बातें मालूम हुई हैं और लोग बौद्ध धर्मको ठीक २ समझने लगे हैं। वह उल्लेख निम्न प्रकारसे है:—

It is not too much to say that the discovery of early Buddhism has placed all previous knowledge of the subject in an entirely new light, and has turned the flank, so to speak of most of the existing literature on Buddhism. I use the term "discovery" advisedly, for though the Pali texts have entirely for many years in public libraries, they are only now beginning to be understood. Buddhims of Pali Pitakas is not only a different thing from Buddhism as hitherto commonly received, but is antagonistic to it."

अर्थात् जबसे बौद्धोंके प्राचीन साहित्यकी खोज हुई है, तबसे बहुत सी बातोंपर नया प्रकाश पड़ा है। यद्यपि पाली साहित्य वर्षोंसे पब्लिक लाइब्रेरियोंमें मौजूद था, लेकिन लोगोंने उसे अभी समझना शुरू किया है इत्यादि।

इससे Rys. Davids का कहना यही है कि लोगोंकी बौद्धधर्मके विषयमें जो मिथ्या धारणायें थीं, वे अब पाली साहित्यके प्रकाशमें आनेके कारण दूर होती जा रही हैं। इससे उनका आक्षेप युरोपियन विद्वानोंपर है। जो बौद्धधर्मको ठीक ठीक न समझकर उसपर टीका टिप्पणी करते हैं। इसका यह मतलब कदापि नहीं कि अकलंक आदि विद्वानोंने बौद्ध धर्मका ग़लत खण्डन किया है। दुःख है कि ब्रह्मचारीने पूर्वापर संबंधका ध्यान रखकर, केवल उनके एक वाक्यको पढ़कर अपना मत बना लिया है।

यही बात क्षणिकवादके लिये भी कही जा सकती है। जैन और ब्राह्मण ग्रंथकारोंने बौद्धोंके क्षणिक वादमें जो कृत-प्रणाश, अकृत-कर्म-भोग, भवभंग, स्मृतिभंग आदि दोष दिखाये हैं, वे कुछ निर्मूल नहीं है। क्षणिक वाद बौद्ध मानते हैं। एक तरह यों कहिये कि 'क्षणिक वाद' के बिना बौद्ध धर्म टिका नहीं रह सकता। इस लिए ब्रह्मचारीजीका यह लिखना कि 'पाली प्राचीन पुस्तकोंमें सर्व वस्तुओंको नाशवान नहीं कहा" भ्रमसे

खाली नहीं है। बौद्ध ग्रन्थोंमें एक कथा आती है। 'एक बार किसी चोरने एक आदमीके आम चुरा लिये। आमोंका मालिक चोरको पकड़कर राजाके पास लेगया, चोरने राजासे कहा 'महाराज, जो फल इस आदमीने लगाये थे वे दूसरे थे और जो मैंने चुराये हैं वे दूसरे हैं। अतएव मैं दण्डका भागी नहीं हूँ। इसपर राजाने कहा "यदि आमोंका मालिक आम नहीं लगाता तो तू चोरी कैसे कर सकता" इसलिए तू दण्डका भागी अवश्य है।' कहने का अभिप्राय यह है कि उस समय भी क्षणभंग-वाद मौजूद था। इसी लिये तो जैन विद्वानोंने उसमें 'अकृत-कर्म-भोग' नामका दोष दिया है। और वास्तवमें देखा जाय तो यह ठीक ही है। कारण कि क्षणिकवाद ही बौद्धोंकी मजबूत भित्ति है। जिसपर अनात्मवाद और शून्यवाद नामक सिद्धांत रक्खे गये हैं। इस लिए यह मानना पड़ेगा कि क्षणिकवादका सिद्धांत पहला है। हाँ उसे तार्किकरूप भले ही बादमें दिया गया हो, जैसा कि रत्न-कीर्ति, शान्तरक्षित आदि बौद्ध विद्वानोंने अपने 'क्षणभंग-सिद्धि' 'तत्त्वसंग्रह' आदि ग्रंथोंमें किया है।

अब ब्रह्मचारीजीकी एक बात रह जाती है। वह यह कि बौद्ध ग्रंथोंमें निर्वाणको 'अजातं' और 'अमतं' (अमृतं) क्यों कहा? ब्रह्मचारीजीको शायद विदेशीय विद्वानों पर बहुत श्रद्धा है। इसलिए हम इसका उत्तर Childers के शब्दोंमें ही देंगे। Childers बौद्ध धर्मके एक बड़े विद्वान् हो गये हैं; उन्होंने बौद्ध धर्मका एक कोश भी लिखा है। Childers का कहना है कि बौद्ध ग्रंथोंमें निर्वाणकी दो अवस्थायें बताई गई हैं—एक अर्हत् अवस्था जो आनन्द स्वरूप है, दूसरी शून्यरूप--अभावरूप अवस्था, जो अर्हत् अवस्थाकी चरम सीमा है (The state of blissful sanctification and अर्हत् ship and the annihilation of existence in which अर्हत् ship ends.) आगे चलकर वे लिखते हैं "अब देखना है कि बौद्धधर्मका उद्देश्य क्या है?" "अर्हत् अवस्थाकी प्राप्ति बौद्धधर्मका अंतिम उद्देश्य नहीं है। क्योंकि अर्हत् अवस्था नित्य अवस्था नहीं है; अर्हत् अमुक समय बाद काल धर्मको प्राप्त होते हैं। इस बातकी पुष्टिमें बौद्धग्रन्थोंमें सैंकड़ों उल्लेख मिलते हैं कि अर्हत् मरणके पश्चात् जीवित नहीं रहते, बल्कि उनका अस्तित्व ही नष्ट हो जाता है"—

But since अर्हत्s die, अर्हत् ship is not an eternal state, & therefore it is not the goal of Buddhims. It is almost superfluous to add that not only is there no trance in the Buddhist scriptures of the अर्हत् containing to exist after death, but it is deliberately stated in innumerable passages that the अर्हत् does not live again after death, but ceases to exist. उक्त विद्वान्का कथन है कि अर्हत् अवस्था 'सो पादिसे सनिब्बाण' अथवा 'किलेस परिनिब्बाण' की अवस्था है, जिसमें सब क्लेशोंका क्षय हो जाता है, और जहाँ केवल पंच स्कंध शेष रहते हैं। इसी अर्हत् अवस्थाको बौद्ध ग्रन्थोंमें 'अजात' 'अमत' 'अनुत्तर' 'अकुतोभय' आदि विशेषण दिये हैं। लेकिन बौद्धोंका निर्वाण अभी इससे और आगे है। उस निर्वाणको बौद्ध ग्रंथोंमें 'अनुपादिसेसनिब्बाण' अथवा 'खंधपरिनिब्बाण' के नामसे कहा गया है। यह वह अवस्था है, जो अर्हत् अवस्थाकी चरम सीमा है। यहाँ समस्त स्कंधोंका--रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा और

संस्कारका--क्षय हो जाता है। जैसे दीपका निर्वाण हो जाता है और वह शान्त हो जाता है, वैसे ही अर्हत् भी शान्त हो जाता है। उसका 'नाम रूप' कुछ भी बाक़ी नहीं रहता, उसका 'भाव निरोध' हो जाता है। यह ऐसी अवस्था है जिसकी उपमा 'शब्द रहित भग्न घंटे' (noiseless broken gong) से दी गई है ...ट जानेसे निःशब्द हो जाता है, वैसी ही अवस्था निर्वाण प्राप्त करने पर अर्हत्की भी हो जाती है। आगे चलकर Childers ने स्पष्ट लिखा है।

"A great number of expressions are used with reference to निर्वाण which leave no room to doubt that it is the absolute extinction of being, the annihilation of the individual being. ...The Simile of fire is the strongest possible way of expressing annihilation intelligibly to all" —

अर्थात् बौद्ध-ग्रन्थोंमें जो निर्वाणके सम्बन्धमें उल्लेख आते हैं, उनसे यह निस्सन्देह सिद्ध हो जाता है कि अस्तित्वके पूर्ण विनाशकी अवस्था ही निर्वाण है।...तथा अग्निके बुझनेकी जो निर्वाणसे उपमा दी गई है, वह शून्यत्वके अभावको व्यक्त करनेका सबसे ज़ोरदार तरीक़ा है।

हम यहां यह बता देना चाहते हैं कि हरेक धर्म और दर्शनमें अलगर विशेषतायें हुआ करती हैं। जैसे वेदान्तकी विशेषता ब्रह्मवाद है, जैनदर्शनकी स्याद्वाद है, वैसे ही बौद्ध धर्मकी विशेषता क्षणिकवाद और शून्यवादमें ही है। जैसे ब्रह्मवाद और स्याद्वादके निकाल देने पर वेदान्त और जैनदर्शनमें कुछ नहीं रह जाता, वैसे ही क्षणभंगवाद और शून्यवादके निकाल देने पर बौद्धधर्ममें कुछ नहीं रहता। इतना ही नहीं, बल्कि क्षणवाद और शून्यवादके सिद्धांत, बौद्धदर्शनमें बहुत अच्छी तरह 'फ़िट' होते हैं। हम इन वादोंकी परस्पर तुलना अवश्य कर सकते हैं, ेकिन ब्रह्मवाद, शून्यवाद और जैनियोंका निर्वाण आदि सबको एक नहीं बता सकते। महायान सम्प्रदायने शून्यवादको 'अन्तद्वय-रहित' 'चतुस्कोटिविनिर्मुक्त' 'मध्यम प्रतिपदा' आदि विशेषण देकर उसे ब्रह्मवादके अत्यन्त समीप लानेका प्रयत्न किया, जिसका फल यह हुआ कि कालांतरमें महायान अपना स्वतन्त्र अस्तित्व ही खो बैठा। कारण स्पष्ट है कि जब तक कोई वस्तु अद्भुत अथवा नई होती है, तभी तक लोगोंका ध्यान उसकी ओर आकर्षित होता है। ख़ैर!

इसके अलावा यह भी ध्यान रखनेकी बात है कि इस तरह तो वेदान्त, सांख्य आदि दर्शनोंके मोक्ष सिद्धान्तको और जैन दर्शनके मोक्षसिद्धान्तको भी एक मानना चाहिये, क्योंकि ये सब दर्शनकार भी मोक्षको अचल, स्थिर आदि मानते ही हैं।

असलमें बात तो यह है कि ब्रह्मचारी जी अपना मत बनानेमें जल्दी बहुत करते हैं। जहाँ उनको कोई बात दिखाई दी, वे झट, उस पर अपना निर्णय दे डालते हैं, उसपर अधिक विचार नहीं करते। जब ब्रह्मचारी जी 'जैन-बौद्ध-तत्वज्ञान' जैसी महत्व पूर्ण पुस्तक लिखने बैठे, तब उन्हें बौद्ध शास्त्रोंका काफ़ी समय तक अभ्यास अवश्य करना चाहिये था। उनको, बौद्ध शास्त्रोंमें आत्मा, मोक्ष आदिके सम्बन्धमें जो अनेक प्रकारके भिन्न भिन्न उल्लेख आते हैं, उन सबको एकत्रित कर उनपर विचार जरूर करना चाहिये था। बादमें जैनधर्मसे मिलान करनेकी जिम्मेवरीका काम अपने सिर पर उठाना उचित था। अन्तमें हम यह भी बतादेना चाहते हैं कि इस विषयकी चर्चा करनेमें हमारा ज़रा भी अन्यथा भाव नहीं है। बल्कि ब्रह्मचारीजीके प्रति हमारा बहुत आदरका भाव है। हम यही चाहते हैं कि ब्रह्मचारी जी अपने आग्रहको छोड़ दें। 'जैन और बौद्ध धर्म एक नहीं हैं—कमसे कम आत्मा और निर्वाण सम्बन्धी मान्यताएँ तो उनकी बहुत ही भिन्न हैं।' यदि ब्रह्मचारीजी इस बातको मान जाएँ तो हम अपना परिश्रम सफल समझेंगे।

एक महान् साहित्य-सेवीका वियोग

[सम्पादकीय]

यों तो संसारमें बराबर संयोग-वियोग चला करता है। हजारों मनुष्य प्रतिदिन जन्म लेते हैं और हजारों ही मरणको प्राप्त हो जाते हैं। जो जन्मा है उसको एक दिन मरना जरूर है, ऐसा अटल नियम होते हुए किसीका भी वियोग कोई आश्चर्यकी वस्तु नहीं और न वह प्राज्ञोंके दृष्टि-कोणानुसार दुःख-शोकका विषय ही होना चाहिये, फिर भी जिनका सारा जीवन सेवामय व्यतीत होता हो और जो खासकर साहित्य-सेवाके द्वारा निरन्तर ही स्थिर लोकसेवा किया करते हों उनका अचानक वियोग साहित्य प्रेमियों, साहित्य सेवियों, साहित्यसे उपकृत होनेवालों एवं साहित्य संसार-को बहुत ही अखरता है, और इसलिये सभी उनके प्रति श्रद्धाँजलि अर्पण करके अपनी कृतज्ञता व्यक्त किया करते हैं। ऐसा ही एक कर्तव्य आज मेरे सामने भी उपस्थित है जिसका पालन करता हुआ मैं 'अनेकान्त' के पाठकोंको एक ऐसे महान् साहित्य-सेवीका कुछ परिचय कराना चाहता हूँ जिनका हालमें ही -१ली दिसम्बर सन् १९३९ को ७० वर्षकी अवस्थामें सेवा करते करते पाटन शह-रमें देहावसान हुआ है।

साहित्यसेवी दो प्रकारके होते हैं,—एक वे जो लोकोपयोगी नूतन पुष्ट साहित्यका सृजन (निर्माण) करते हैं और दूसरे वे जो ऐसे पुरातन साहित्यका संशोधन, संरक्षण, सम्पादन और प्रकाशन किया करते हैं। जिन महानुभावका यहाँ परिचय कराना है वे प्रायः दूसरी कोटिके साहित्य-सेवियोंमेंसे थे, और उनका शुभ नाम है मुनिश्री 'चतुरविजय' जी

आपका जन्म प्राग्वाट (वीसा पोरवाड) जातिमें बड़ौदाके पासके छाणी गाँवमें चैत्र शुक्ला प्रति-पदा विक्रम संवत् १९२६ के दिन हुआ था। आपका गृहस्थ जीवनका नाम चुनीलाल था, माता का नाम जमनाबाई और पिताका नाम मलुकचन्द था। और भी आपके तीन भाई तथा तीन बहिनें थीं। करीब २० वर्षकी अवस्थामें ज्येष्ठशुक्ला दशमी वि० सं० १९४६ को आपने श्री विजयानन्द सूरि (आत्माराम) जी के साक्षात् शिष्यप्रवर्त्तक मुनि श्रीकान्तिविजयजीके पास बड़ौदा रियासत के डभोई नगरमें दीक्षा ग्रहणकी थी, और उसी समय आपका नाम 'चतुरविजय' रक्खा गया था।

दीक्षासे पूर्व आपकी शिक्षा गुजरातीकी प्रायः ७ वीं कक्षा तक ही हुई थी और उस समय आप पुरानी रीतिके हिसाब-किताबमें भी निपुण थे। शेष सब शिक्षा आपकी दीक्षाके बाद हुई है, जिस-का प्रधान श्रेय उक्त प्रवर्त्तकजी को है,जो आज भी अपनी वृद्धावस्थामें मौजूद हैं। आपने संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि अनेक भाषाओंका तथा काव्य, छंद, अलंकारादि-विषयक कितने ही शास्त्रों-का अभ्यास किया था। न्यायका भी थोड़ासा अभ्यास किया था,आगमिक एवं शास्त्रीय विषयोंके साथ सम्बन्ध रखनेवाले अनेक प्रकरण ग्रन्थोंका अध्ययन करके आपने उन्हें कण्ठस्थ कर लिया था और प्रायः सभी मुख्य मुख्य आगम ग्रंथोंको देख डाला था, इससे आगमिकादि विषयोंमें

आपका प्रवेश अति गम्भीररूप धारण कर गया था।

न्यायशास्त्रादि-विषयक अभ्यास कम होनेपर भी, रात दिन सतत स्वाध्याय-परायण होनेसे, प्रायः प्रत्येक विषयमें आपका अच्छा अनुभव होगया था। सामान्यतया किसीको ऐसा प्रतीत नहीं होता था कि आपका इन विषयोंमें कम अभ्यास है।

जहाँ कहीं भी आप रहते थे आपका दिन-रात विद्या-व्यासंग चलता था। आपके स्वभावमें नम्रता, कार्यमें सतर्कता, परिणतिमें सत्यग्राहिता और व्यवहारमें शुद्धता थी। साथ ही, आपके हृदयमें सदैव जिज्ञासावृत्ति और शास्त्रोद्धारकी उत्कट भावना बनी रहती थी। सबके साथ आपका प्रेमका बर्ताव था और आप दूसरे साहित्यसेवियोंको यथाशक्य अपना वाँछित सहयोग प्रदान करनेमें कभी आना-कानी नहीं करते थे। इन्हीं सब गुणोंके कारण मुनिजिनविजय और पं० सुखलालजी जैसे प्रकाण्ड विद्वान आपके प्रभावसे प्रभावित थे। पं० सुखलालजीने हालमें जो आपके कुछ संस्मरण 'प्रबुद्धजैन' नामके गुजराता पत्रमें प्रकट किये हैं उनमें इस बातको स्वीकार किया है और स्पष्ट लिखा है कि—"आपकी नम्रता, जिज्ञासा और 'निख़ालसताने मुझे बाँध लिया···इस सत्यग्राही प्रकृतिने मुझे विशेष वश किया।···पुस्तकोंका संशोधन और सम्पादन कार्य करनेमें मुझे जो अनेक प्रेरक बल प्राप्त हुए हैं उनमें स्वर्गवासी मुनि श्रीचतुरविजयजीका स्थान ख़ास महत्व रखता है, इस दृष्टिसे मैं उनका हमेशा कृतज्ञ रहा हूँ।"

आजसे कोई २०-२५ वर्ष पहले आप मुद्रित ग्रंथोंकी प्रस्तावना संस्कृत भाषामें ही लिखा करते थे। एकबार पं० सुखलालजीने उसकी अनुपयोगिता व्यक्त करते हुए कड़ी आलोचना की, जिसे आप, कोई खास विरोध न करते हुए, पी गये और उसके बादसे ही आपने संस्कृतमें प्रस्तावना लिखनेकी प्रथाको प्रायः बदल डाला, जिसके फलस्वरूप उनके तथा उनके शिष्यके प्रकाशनोंमें आज अनेक महत्वकी ऐतिहासिक वस्तुएँ गुजराती भाषाद्वारा जाननी सुगम होगई हैं, ऐसा पं० सुखलालजी अपने उक्त संस्मरणात्मक लेखमें सूचित करते हैं। और यह स्व० मुनिजीकी सत्याग्राही परिणतिका एक नमूना है, जिसने पं० सुखलालजीको विशेष प्रभावित किया था। अस्तु।

सद्गत मुनि श्रीचतुरविजयजीके जीवनका प्रधान लक्ष्य प्राचीन साहित्यकी सेवा था, जिसके लिये आप दीक्षासे लेकर अन्त समय तक—कोई ५१ वर्ष पर्यंत—बड़ी ही तत्परता और सफलताके साथ बराबर कार्य करते रहे हैं। आप जहां कहीं भी जाते थे पहले वहांके शास्त्र भंडारोंकी जांच पड़ताल करते थे, जो भंडार अव्यवस्थित हालतमें होते थे उनकी सुव्यवस्था कराते थे, ग्रन्थोंकी लिस्ट सूची तैयार करते थे, ग्रन्थोंको टिकाऊ कागजके कवरमें लिपटवाते, गत्तोंके भीतर रखाते और अच्छे वेष्टनोंमें बंधवाते थे, उन पर लिस्टके अनुसार नम्बर डालते थे और उन्हे सुरक्षित अलमारियों, पेटियों अथवा बोक्सोंमें क्रमशः विराजमान करते थे। जो ग्रन्थ जीर्ण-शीर्ण अवस्थामें होते थे अथवा अलभ्य और दुष्प्राप्य जान पड़ते थे उनकी सुन्दर नई कापियाँ स्वयं करते और कराते थे! दूसरेकी की हुई कापियोंका संशोधन करते थे, इस तरह आपके द्वारा तथा आपकी प्रेरणाको पाकर

छोटे-बड़े सैंकड़ों शास्त्र भण्डारोंका उद्धार हुआ है और वे जनताके लिये उपयोगी तथा विद्वानोंके लिये सरलतासे काम आने योग्य बने हैं। पाटन, बड़ौदा और लिम्बड़ी आदिके जो बड़े बड़े ज्ञान भण्डार आज सुव्यवस्थित अवस्थामें पाये जाते हैं, उनकी सुव्यवस्थित सूचियाँ बनकर प्रकाशित हुई हैं और जगत उनसे जो आज भारी लाभ उठा रहा है वह सब आपके और आपके गुरुदेव प्रवर्तक श्री कान्तिविजयजी महाराजके परिश्रमका ही फल है--इस कार्यमें सबसे अधिक हाथ आपका ही रहा है।

आपने सैंकड़ों ग्रन्थोंकी प्रतियाँ अपने हाथसे लिखी हैं और दूसरोंकी लिखी हुई प्रतियोंका संशोधन किया है। संशोधन कार्यमें आप खूब दक्ष थे, आपको प्राचीन लिपियोंकी ठीक वाचनकला आती थी। और इसी तरह प्रति लेखन-कलामें भी आप निपुण थे। आपकी हस्तलिपि बड़ी ही सुन्दर एवं दिव्य रूपा थी, आपने बहुतसे लेखकोंको अपने हाथतले रखकर उन्हें लेखन-कला सिखलाई है, कई अच्छे मर्मज्ञ लेखक तैयार किये हैं और उनसे हज़ारों ग्रन्थोंकी प्रतिलिपियाँ कराई हैं। अपने लिखे हुए और अपने हाथके नीचे दूसरोंसे लिखाये हुए तथा अपने द्वारा संशोधित हुए ग्रन्थोंका एक बहुत बड़ा समूह आपने पं० श्रीकान्तिविजयजीके नाम पर स्थापित बड़ौदा और छाणीके ज्ञान भण्डारोंमें स्थापित किया है। बड़ौदाका भंडार इतना अधिक पूर्ण और उपयोगी संग्रह लिये हुए है कि पं० सुखलालजीने उसे 'चाहे जिस विद्वान्का मस्तक नमानेके लिये काफ़ी' लिखा है।

आपके शिष्योत्तम मुनि श्री पुण्यविजयजीने 'भारतीय जैनश्रमण संस्कृति अने लेखनकला' नामकी जो महत्वपूर्ण पुस्तक लिखी है वह सब आपके ही लेखनकला-विषयक अनुभवोंका फल है, ऐसा मुनि पुण्यविजयजी अपने पत्रमें सूचित करते हैं। इस परसे उक्त पुस्तकका परिचय करने वाले विद्वान् इस बातका सहजमें ही अनुभव कर सकते हैं कि श्री चतुरविजयजीको लेखनकला और लिपियोंके विकासादि विषयक कितना विशाल तथा गम्भीर परिज्ञान था। और यह सब उन्हें उनके हजारों हस्तलिखित ग्रन्थोंके अवलोकन और मनन परसे ही प्राप्त हुआ था।

समाजमें मुद्रण कलाके प्रचारका प्रारम्भ होने पर आपने ग्रंथोंके प्रकाशनकी ओर ख़ास ध्यान दिया था और यह काम आपका साहित्य-सेवाकी ओर दूसरा महान क़दम था। इसके फल स्वरूप ही आत्मानन्द जैन सभा भावनगरकी ओरसे 'आत्मानन्द जैनग्रन्थरत्नमाला' का निकलना प्रारम्भ हुआ। इस ग्रन्थमालाके आप मुख्य प्राण ही नहीं किन्तु सर्वस्व थे। ग्रन्थमालामें अब तक ८८ ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं, जिनमेंसे बृहत्कल्प सूत्रादि कितने ही ग्रन्थ बड़े महत्वके हैं। इन ग्रंथोंमें से अधिकांशका सम्पादन आपके द्वारा तथा आपके प्रभावसे हुआ है। आप क़रीब २९ वर्ष तक ग्रन्थमालाका सतत कार्य करते रहे हैं! इस समय कई ग्रन्थोंकी प्रेस कापियां छपानेके लिये तैयार मौजूद हैं, बृहत्कल्पके (जिसके पांच खंड निकल चुके हैं) पूरा छप जानेके बाद आपका विचार 'निशीथसूत्र' तैयार करनेका था और फिर कथारत्नकोश तथा मलयगिरि-व्याकरण आदि दूसरे भी अनेक ग्रन्थोंको हाथमें लेनेका विचार

था, ऐसा मुनिपुण्यविजयजी सूचित करते हैं।

'प्रवर्तक श्रीकान्तिविजयजी ऐतिहासिक ग्रन्थ माला' भी आपके ही प्रभावसे चलती थी जिसमें मुनि श्री जिनविजयजीके द्वारा सम्पादित होकर विज्ञप्तित्रिवेणी, कृपारसकोश, प्राचीन जैनलेख-संग्रह आदि कितने ही महत्वके ऐतिहासिक ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं।

गायकवाड ओरियंटल सिरीजमें प्रकाशित 'मोह पराजय' का सम्पादन भी आपका ही किया हुआ है। और भी कई ग्रन्थमालाओंमें आपने ग्रन्थ सम्पादनका कार्य किया है। श्राद्धगुण विवरणका गुजराती अनुवाद भी आप कर गये हैं। अनेक विद्वानोंको साहित्य सेवाके कार्योंमें आप अच्छी सहायता दिया करते थे। आपके ही द्वारा देश-विदेशके अनेक विद्वानोंको पाटनके भंडारोंके दर्शन और अनेक अलभ्य ग्रंथोंका मिलना सुलभ हुआ है। आपके गुरु श्रीकान्तिविजयजीके उपदेश से निर्मित हुए 'हेमचन्द्राचार्य-जैनज्ञानमन्दिर' का जो उद्घाटनोत्सव पाटनमें गत अप्रैल मासमें हुआ था और जिसका परिचय अनेकान्तकी पिछली ७वीं किरणमें दिया जा चुका है उसमें भी आपका प्रधान हाथ रहा है।

इस तरह मुनि श्रीचतुरविजयजीने अपनी ५१ वर्षकी लम्बी प्रव्रज्या-पर्यायमें ग्रन्थोंके संशोधन, संरक्षण, सम्पादन और प्रकाशनादिके द्वारा प्राचीन साहित्यके उद्धाररूपमें बहुत बड़ी साहित्य सेवा की है। शरीरके निर्बल हो जानेपर भी आपने अपना यह सेवाकार्य नहीं छोड़ा, आप युवकों जैसा उत्साह रखते थे और इसलिये जीवन के प्रायः अन्त समय तक—अन्तिम एक सप्ताहको छोड़कर आप अपने उक्त कर्तव्यका पालन करते हुए और साथ ही संयमी जीवनका निर्वाह करते हुए परलोकवासी हुए हैं।

इस सब सेवाकार्यके अतिरिक्त और भी जो बड़ा कार्य आपने अपने जीवनमें किया है वह अपने शिष्य मुनिपुण्यविजयजी को अपने ही समान बना जाना। मुनि पुण्यविजयजी १३ वर्षकी अवस्थामें आपके श्रीचरणोंमें आकर दीक्षित हुए थे। और आज उन्हें करीब ३१ वर्ष आपके सत्संग एवं अनुभवोंसे लाभ उठाते और आपके साथ काम करते होगये हैं। आपने पुत्रकी तरह उनके पालन तथा शिक्षणादिका बड़ा ही सत्प्रयत्न किया है, और यह सब उसीका सत्फल है जो आज उनमें आपके प्रायः सभी गुण मूर्तिमान तथा विकसित नज़र आते हैं और वे आपके सच्चे उत्तराधिकारी हैं। अभिमान उन्हें छूकर नहीं गया, वही सेवाभावकी स्पिरिट उनके रोम रोममें बसी हुई है और वे दूसरे साहित्यसेवियों को उनके कार्यमें सहयोग प्रदान करना अपना बड़ा कर्तव्य समझते हैं। मुझे समय समय पर आपसे अनेक ग्रन्थोंकी सहायता प्राप्त होती रही है। अभी 'जैन लक्षणावली' के लिये कुछ ग्रन्थ कीमतसे भी कहींसे नहीं मिल रहे थे, आपने उन्हें भावनगर तथा बड़ौदासे भिजवाया और लिखा कि जब तक आपका कार्य पूरा न हो जाय तब तक आप उन्हें खुशीसे रख सकते हैं। इस उदार व्यवहारके लिये मैं उनका बहुत आभारी हूँ। ऐसे सत्पात्रको अपने उत्तराधिकारमें देकर स्व० मुनि श्रीचतुरविजयजीने बड़ी ही चतुराईका काम किया है और अपने सेवा कार्योंके भव्य भवन पर सुवर्णकलश चढ़ा दिया है। और इसलिये आपके अवसानसे साहित्य-संसारको जहां बहुत बड़ी क्षति पहुँची है वहाँ आपकी इस प्रतिमूर्तिपूजाको देखकर सन्तोष होता है और भविष्यके लिये बहुत कुछ आशा बधती है।

इस सत्प्रवृत्तिमय जीवनसे दिगम्बर जैन-समाजके मुनिजन एवं दूसरे त्यागीजन यदि कुछ शिक्षा ग्रहण करें और दि० जैन साहित्यके उद्धार का बीड़ा उठावें और उसे अपने जीवनका प्रधान लक्ष बनावें, तो कितना अच्छा हो?

वीर-सेवा-मन्दिर, सरसावा, ता० २०-१-१९४०

—❀—

वीर-सेवा-मन्दिरको सहायता

हालमें वीरसेवामन्दिर सरसावाको २०) रु० की सहायता निम्न सज्जनोंकी ओरसे प्राप्त हुई है, जिसके लिये दातार-महानुभाव धन्यवादके पात्र हैं:—

५) पं० वन्शीधर जी जैन व्याकरणाचार्य बीना जि० सागर

५) ला० वन्शीधर सुमेरचन्द जी जैन, बैलनगंज, आगरा (चि० प्रतापचन्दके विवाहकी खुशीमें)

५) दिगम्बर जैन समाज, पानीपत (दशलक्षण पर्व पर दानमें निकाली हुई रकममेंसे)

५) बा० मुख्तारसिंहजी जैन बी. ए. सी. टी. असिस्टेंट मास्टर गवर्नमेंट हाई स्कूल, मुजफ्फर-नगर (माताजीके स्वर्गवासके उपलक्षमें निकाले हुए दानमें से) ।

———

२०)

अधिष्ठाता वीर-सेवा-मन्दिर
सरसावा जि० सहारनपुर

महावीर

बालकों का सचित्र हिन्दी मासिक पत्र है। इसमें हिन्दी संसारके सुप्रसिद्ध लेखकों और कवियोंकी सुन्दर रचनायें रहती हैं। बालकोपयोगी रोचक और अनूठी गद्यपद्य पुस्तकोंके लेखकोंको समुचित पुरस्कार दिया जाता है।

आज ही ग्राहक बनिये। वार्षिक मूल्य सवा रुपया और एक प्रतिका दो आना।

पता—महावीर, जबलपुर

सरल-जैन-ग्रन्थमाला, जबलपुर

की ही पुस्तकें आज प्रायः सभी जैन स्कूलों और पाठशालाओंमें पढ़ाई जाती हैं। पुस्तकें मँगाते समय ध्यान रखिये कि वे 'सरल जैनग्रन्थमाला' द्वारा प्रकाशित हैं। १२) की पुस्तकें मँगाने पर "महावीर" बालमासिक पत्र साल भर बिना मूल्य मिलेगा।

आज ही आर्डर भेजिये।

Regd. No. L. 4328

अन्धोंकी बस्ती

[—"माहिर" अकबराबादी]

यह दुनिया भी इलाही किस क़दर नादान दुनिया है।
यहाँ हर चीज़ पर बातिल का इक नापाक परदा है॥

यहाँ हर वक्त जुल्मोजोरका इक शग्ल जारी है।
यहाँ खुश रहके भी इन्सान वक्फ़े आहोज़ारी है॥

यहाँ नादार को नादार कहना इक क़यामत है।
यहाँ क़ल्लाशको ज़रदार कह देना मुरव्वत है॥

यहाँ जुहदो तक़द्दुसको समझते हैं रियाकारी।
यहाँ दींदारियोंका नाम है ऐने गुनहगारी॥

यहाँ हर झूठको सच और सचको झूठ कहते हैं।
यहाँ इन्सानियतके भेसमें शैतान रहते हैं॥

यहाँ मुल्लाए मस्जिद ही है ठेकेदार जन्नतका।
यहाँ इसके सिवा हासिल किसे है हक़ इबादत का॥

यहाँ दिलदारियोंका रूप भरती है जफाकारी।
वही है यारे सादिक़ जिसको आए कारे ऐय्यारी॥

वही है दोस्त जो साथी हो शग्ले ऐशो इशरत में।
जो नेकीकी तरफ ले जाए दुशमन है हक़ीक़त में॥

यहाँ हँसनेको सब हँसते हैं बेकारोंकी क़िस्मत पर।
मगर रोना नहीं आता है बेचारोंकी क़िस्मत पर॥

यहाँ की रीतको देखा यहाँकी प्रीतको समझा।
खुदाको भूल जाए जो वही है आक़िले दाना॥

चल इस बस्ती से ऐ 'माहिर' यह इक अन्धोंकी बस्ती है।
यहाँ हर गुलको बढ़ बढ़ कर ज़बाने खार डसती है॥

वीर प्रेस ऑफ इंडिया कनॉट सर्कस, न्यू देहली